प्रथमावृत्ति वीर नि. सं. २४३५, सन् १९०८
द्वितीयावृत्ति वीर नि. सं. २५००, सन् १९७४
प्रतियाँ ११००

ब्र. दुलीचन्द जैन ग्रन्थमालाको देहली निवासी श्रीमती कमलाबाई धर्मपत्नी श्रीलाला कृपारामजी जैन द्वारा एक हजार रुपये ज्ञानप्रचार हेतु प्राप्त हुए हैं; तदर्थ धन्यवाद!

मूल्य
२–५०

मिलनेका पता :
टोडरमल स्मारक भवन
ए-४ बापूनगर, जयपुर-३ (राज०)

: मुद्रक :
मगनलाल जैन
अजित मुद्रणालय
सोनगढ (सौराष्ट्र)

—: प्रस्तावना :—

[प्रथमावृत्तिसे]

पाठक महाशय! लीजिये, श्री जिनेन्द्रदेवकी कृपासे हम आज बाराणसी निवासी कविवर बाबू वृन्दावनदासजीका 'प्रवचनसार परमागम' लेकर उपस्थित हैं। इसका एकबार आद्योपान्त स्वाध्याय करके यदि आप अपनी आत्माका कुछ उपकार कर सकें, तो हम अपने परिश्रमको सफल समझेंगे।

इस ग्रन्थके मूल कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् ४९ में नंदिसंघके पट्टपर विद्यमान थे, ऐसा पट्टावलियोंसे पता लगता है। आपके बनाये हुए ८४ प्राभृत (पाहुड़) ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमेंसे इस समय आठ-पाहुड उपलब्ध हैं। और पंचास्तिकाय, नाटक समयसार तथा प्रवचनसार ये तीन बहुत प्रसिद्ध हैं। इन तीनोंकी द्वितीय सिद्धान्तमें अथवा द्वितीय श्रुतस्कंधमें गणना है। और इनमें शुद्ध निश्चयनयको प्रधान मानकर कथन किया है। इस प्राभृतत्रयीमेंसे पंचास्तिकाय और नाटक समयसार छप चुके हैं। केवल प्रवचनसार रह गया था, सो आज यह भी मुद्रित होकर तैयार है। यद्यपि भाषा-वचनिका तथा मूल पाठके बिना इस ग्रन्थका सर्वांगपूर्ण उद्धार नहीं कहलायेगा तो भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि प्रवचनसार प्रकाशित नहीं हुआ है।

इस ग्रंथकी संस्कृतमें दो टीका[1] उपलब्ध हैं, एक [2]श्री अमृतचंद्रसूरिकी, [3]तत्त्वदीपिका टीका और दूसरी श्री जयसेनाचार्यकी

---

१. इन दोनों ही टीकाओंके छपनेका प्रबंध हो रहा है।

२. श्री कुन्दकुन्दाचार्यके तीनों ग्रन्थ पर श्री अमृतचंद्राचार्यकी टीकायें हैं और वे सब प्राप्य हैं। अमृतचन्द्राचार्य संवत् ९६२ में नन्दिसंघके पट्ट पर विद्यमान थे।

३. यह टीका बम्बई यूनीवर्सिटीने अपने एम. ए. के संस्कृत कोर्समें भरती की है।

टीका। इनमेंसे तत्त्वदीपिका टीकाके आधारसे आगरा निवासी स्वर्गीय पंडित [१]हेमराजजीने विक्रम संवत् १७०९ में शाहजहाँ बादशाहके राज्यकालमें भाषा-वचनिका बनाई है। और इसी भाषा-वचनिकाके आधारसे काशी निवासी कविवर वृन्दावनजीने यह पद्यबद्ध टीका बनाई है। यह टीका उन्होंने संवत् १९०५ में अर्थात् आजसे ६० वर्ष पहले पूर्ण की थी।

कविवर वृन्दावनजीका जीवन-चरित्र और उनके ग्रन्थोंकी आलोचना हमने जैन-हितैषीके गतवर्षके उपहार ग्रन्थ वृन्दावन-विलासमें खूब विस्तारसे की है। इसलिये अब उनकी पुनरावृत्ति करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। जिन महाशयोंको पढ़नेकी रुचि हो, वे उक्त ग्रन्थ मँगाकर देख लें।

इस ग्रन्थको हमने दो हस्तलिखित प्रतियोंके अनुसार संशोधन करके छपाया है। जिनमेंसे एक तो कविवर वृंदावनजीकी स्वयं हाथकी लिखी हुई प्रथम प्रति थी, जो हमें काशीके सरस्वती भंडारसे प्राप्त हुई थी और दूसरी करहल निवासी पंडित धर्म-सहायजीके द्वारा प्राप्त हुई थी। यह दूसरी प्रति भी पहलीके समान प्रायः शुद्ध है और शायद पहली प्रति परसे ही नकल की हुई है।

कविवर वृन्दावनजीकी लेखन-शैली आदिसे अन्त तक एक सी नहीं मिलती। उन्होंने एक ही शब्दको कई प्रकारसे लिखा है। मैं में, हैं हें, तें तैं तै, कै के, नहिं नहि नहीं, होहिं होहिं होहि, सों सौं, त्यों त्यौं, कह्यो कह्यौ, विषै विषैं विषें, आदि जहाँ जैसा जीमें आया है इस प्रकार लिखा है। जान पड़ता है कि ऐसे शब्दोंके लिखनेका उन्होंने कोई नियम नहीं बनाया था, विकल्पसे वे सबको शुद्ध मानते थे। उनके लेखमें श, ष और स की भी

---

१ हेमराजजीने भी तीनों ग्रन्थोंकी भाषा-वचनिका बनाई है।

ऐसी ही गड़बड़ थी। जहाँ कविताके अनुप्रासादि गुणोंका कोई प्रतिबन्ध नहीं था, वहां उन्होंने शुद्ध शब्द पर ध्यान देकर आकारादिका प्रयोग नहीं किया है। सर्वत्र इच्छानुसार ही किया है। वर्तमान लेखन शैलीसे विरुद्ध होनेके कारण हमने ऐसे स्थानोंमें जहाँ कि तुकान्त अनुप्रासादिकी कोई हानि नहीं होती थी, शुद्ध शब्दोंके अनुसार ही शकार सकारका संशोधन कर दिया है। तें तैं के कै आदिके संशोधनमें कहीं कहीं मूल प्रतिके समान ही विकल्प हो गये हैं, तो भी जहां तक हमसे वन पड़ा है आदिसे अन्त तक एक ही प्रकारसे लिखा है।

कविवरकी भाषामें जहां-तहां पुलिंगके स्थानमें स्त्रीलिंगका प्रयोग किया गया है। सो भी ऐसी जगह जहां हमारे पाठकोंको अटपटा जान पड़ेगा। हमारे कई मित्रोंका कथन था कि, इसका संशोधन कर देना चाहिये। परन्तु हमने इसे अच्छा न समझा। ऐसा करनेसे ग्रन्थकर्ताके देशकी तथा समयकी भाषाका क्या रूप था, इसके जाननेका साधन नष्ट हो जाता है। संशोधन कर्ताका यही कार्य है कि, वह दो-चार प्रतियों परसे लेखकोंकी भूलसे जो अशुद्धियाँ हो गई हैं, उनका संशोधन कर देवे। यह नहीं कि, मूल कर्ताकी कृतिमें ही फेरफार कर डाले। खेद है कि, आजकल बहुतसे ग्रन्थप्रकाशक इस नियम पर विलकुल ध्यान नहीं देते हैं।

पहले यह ग्रन्थ मूल, संस्कृत टीका और भाषा-वचनिकाके साथ छपनेके लिये श्री रायचन्द जैन शास्त्रमालाके प्रवन्धकर्ताओंने लिखवाया था। परन्तु जब टीका तैयार न हो सकी और शास्त्र-मालाके दूसरे संचालककी इच्छा इसे प्रकाशित करनेकी न दिखी, तब इसे पृथक् छपानेका प्रवन्ध किया गया। केवल गाथा और उनकी संस्कृत छाया देनेसे संस्कृत नहीं जाननेवालेको कुछ लाभ

नहीं होगा, ऐसा सोचकर इसमें केवल मूल गाथाओंका नंबर दे दिया है। इससे जो लोग मूल ग्रन्थ तथा संस्कृत टीकासे अर्थ समझना चाहेंगे उन्हें लाभ होगा।

इस ग्रन्थकी टीकाओंमें प्रत्येक गाथाके प्रारम्भमें शीर्षकके रूपमें छोटी छोटीसी उत्थानिकायें हैं। यदि वे इसके साथ लगा दी जातीं, तो वहुत लाभ होता। परन्तु ग्रन्थके कई फार्म छप चुकने पर यह वात हमारे ध्यानमें आई, इसलिये फिर कुछ न कर सके। पाठकगण इसके लिये हमें क्षमा करेंगे। यदि कभी इसकी दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो यह त्रुटि पूर्ण कर दी जायेगी, परन्तु जैनसमाजमें ग्रन्थोंका इतना आदर ही कहाँ है, जो ऐसे ग्रन्थोंकी दूसरी आवृत्तिकी आशा की जावे।

हम ऊपर कह चुके हैं कि यह ग्रन्थ मूल ग्रन्थका अनुवाद नहीं, किन्तु टीकाका पद्यानुवाद अथवा पद्यमयी टीका है। इसमें पंडित हेमराजजीकी वचनिकाका प्रायः अनुवाद किया गया है। कहीं कहीं तो वचनिकाका एक शब्द भी नहीं छोड़ा है। हमारी इस वात पर विश्वास करनेके लिये पाठकोंको तीसरे अधिकारकी २३ वीं गाथाकी कविता पंडित हेमराजजीकी वचनिकासे देखना चाहिये। वचनिकाके साथ इस अनुवादके दो-चार स्थान मिलाकर दिखाने और उनकी आलोचना करनेका हमारा विचार था, जिससे यह ज्ञात हो जाता कि कविवर वृन्दावनजीने मूल ग्रन्थके तथा टीकाओंके अभिप्रायोंको कहांतक समझकर यह अनुवाद किया है। परन्तु खेद है कि अवकाश न मिलनेसे यह विचार मनका मनमें ही रह गया।

इस ग्रन्थमें शुद्ध निश्चयनयका कथन है। इसलिये इस ग्रन्थके स्वाध्याय करनेके अधिकारी वे ही लोग हैं, जो जैनधर्मके निश्चय

और व्यवहारमार्गके मर्मज्ञ हैं। व्यवहार और निश्चयका स्वरूप समझे विना इस ग्रन्थके पाठक अर्थका अनर्थ कर सकते । और उनकी वही गति हो सकती है, जैसी समयसारके अध्ययनसे वनारसीदासजीकी हुई थी। अतएव पाठकोंको चाहिये कि, नय-मार्गका भली भाँति विचार करके इसका स्वाध्याय करें, जिसमें आत्माका यथार्थ कल्याण हो।

इस ग्रन्थके संशोधनमें जहाँतक हमसे हो सका है, किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं की है। तो भी भूल होना मनुष्यके लिये एक सामान्य वात है। इसलिये यदि कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों, तो विशेपज्ञोंको सुधार करके पढ़ना चाहिये। और हम पर क्षमाभाव धारण करना चाहिये। अलमतिविस्तरेण विज्ञेपु—

बम्बई
१०-१०-०८

सरस्वती सेवक—
नाथूराम प्रेमी
देवरी (सागर) निवासी

भक्तकवि वृन्दावनजी (डॉ. नरेन्द्र भनावत)

आपका जन्म सं० १८४८ माघ शुक्ला १४ सोमवार पुष्य नक्षत्रमें जि. शाहावादके वारा नामक ग्राममें हुआ था। आप गोयलगोत्री अग्रवाल थे। सं. १७६० में श्री वृन्दावन वारह वर्पकी अवस्थामें काशी आ गये थे। काशीमें काशीनाथ आदि विद्वानोंकी संगतिसे अध्यात्मिक और वैचारिक विकास हुआ। वे स्वभावसे संत एवं सरलताकी प्रतिमूर्ति थे। जीवनके अन्तिम वर्षोंमें भगवान्के प्रेममें इतनी तन्मयता थी कि वाह्य वेशभूपाकी परवाह नहीं रही। केवल एक कोपीन और चादरसे ही काम चलने लगा; पैरोंमें जूते भी न रहे।

पद्यानुवादः—कविमें अनुवादकी प्रतिभा थी। पन्द्रह वर्षकी

अवस्थासे ही उन्होंने श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'प्रवचनसार'का श्री अमृतचंद्रसूरिकी संस्कृत टीका तथा पांडे श्री हेमराजकी भाषा-टीकाके अनुसार पद्यानुवाद करना आरम्भ कर दिया था। यह मूल ग्रन्थका हूबहू अनुवाद है। कविश्रीने इस ग्रन्थके प्रणयनमें जितना परिश्रम किया उतना अन्य ग्रंथोंमें नहीं। इसे पहलीवार सं. १८६३ में प्रारम्भ कर सं. १९०५ में तीसरी वार पूर्ण किया। इस प्रकार इसमें कविकी ४२ वर्षोंकी साधनाका नवनीत और अनुभवका निचोड़ भरा गया है। —डॉ. नरेन्द्र भनावत

—: अनुक्रमणिका :—

ॐ नमः सिद्धेभ्यो

ॐ नमोऽनेकान्तवादिने जिनाय

*पीठिका ।

मंगलाचरण–षट्पद ।

[नोंध:—यह छह पंक्तियाँ (षट्पद) पं. हेमराजजी कृत हैं।]

सिद्धि सदन बुद्धिवदन, मदनमद कदन दहन रज ।
लब्धि लसन्त अनन्त, चारु गुनवंत सन्त अज ॥

दुविधि धरमविधि कथन, अविधि–तम–मथन–दिवाकर ।
विघ्न निघ्नकरतार, सकल–सुख–उदय–सुधाधर ॥

—मंगलाचरणपूर्वक कविवरका प्रारम्भ—

शतइन्द्रवृन्दपदवंद भव, दन्द फन्द निःकन्द कर ।
अरि शोष-मोक्षमग-पोष निर-दोष जयति जिनराज वर ॥ १ ॥

दोहा ।

सिद्ध शिरोमनि सिद्धपद, शुद्धचिदातम भूप ।
ज्ञानानंद सुभावमय, वंदन करहुं अनूप ॥ २ ॥

---

* अथ श्री प्रवचनसारपरमागम अध्यात्मविद्या श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथा ताकी संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्यकी है ताकी देशवचनिका पांडे हेमराजजीने रची है। ताहीके अनुसारसों वृन्दावन छन्द लिखै है (प्रथम प्रति)।

नमों देव अरहंतको, सहित अनन्त चतुष्ट ।
दोष रहित जो मोक्ष-मग, भाखि करत सुख पुष्ट ॥ ३ ॥

आचारज उवझाय मुनि, तीनों सुगुरु मनाय ।
शिवमग साधत जतनजुत, वंदों मनवचकाय ॥ ४ ॥

सीमंधरको आदि जे, तीर्थंकर जिन वीस ।
अब विदेहमें हैं तिन्हैं, नमों समवसृतईश ॥ ५ ॥

वानी खिरत त्रिकाल जसु, सुनहिं सकल चँहुँसंग ।
केई मुनिव्रत अनुव्रत, धारहिं पुलकित अंग ॥ ६ ॥

केई सहज सुभावमें, लीन होय मुनिवृन्द ।
तीनों जोग निरोधिके, पावैं सहजानन्द ॥ ७ ॥

वृषभादिक चौवीस जे, वर्तमान तीर्थेश ।
तिनको वंदत वृंद अब, मेटो कुमति कलेश ॥ ८ ॥

वृषभसैनको आदि जे, अंतिम गौतमस्वामि ।
चौदहसै त्रेपन सुगुरु, गणधरदेव नमामि ॥ ९ ॥

अनेकान्तवानी नमों, वर्जित सकल विरोध ।
वस्तु जथारथ सिद्धिकर, डारत मन-मल शोध ॥ १० ॥

जोई केवलज्ञान है, स्यादवाद है सोय ।
भेद प्रत्यक्ष परोक्षको, वरतत है भ्रम खोय ॥ ११ ॥

वस्तु अनंत धरममयी, स्याद्वादके रूप ।
सो इकंत सों सधत नहिं, यों भाखी जिनभूप ॥ १२ ॥

जेते धरम तिते पृथक्, गहैं अपेक्षा सिद्ध ।
रहित अपेक्षा सधत नहिं, होत विरुद्ध असिद्ध ॥ १३ ॥

सहित अपेक्षा जो वचन, सो सब वस्तुस्वरूप ।
रहित अपेक्षा जो वचन, सो सब भ्रमतमकूप ॥ १४ ॥

अनेकान्त एकान्तकी, इतनी है पहिचान ।
एक पक्ष एकान्त मत, अनेकान्त सब थान ॥ १५ ॥

अनेकान्त मतकी यहाँ, वरतैं नहिं एकान्त ।
अनेकान्त हू है यहां, अनेकान्त निरभ्रांत ॥ १६ ॥

सम्यग्ज्ञान प्रमान है, नय हैं ताके अंग ।
साधनसाध्य दशाविषैं, इनकी उठत तरंग ॥ १७ ॥

वस्तुरूप साधन विषैं, करत प्रमान प्रवेश ।
नयके द्वारन वरनियत, ताके सकल विशेष ॥ १८ ॥

लक्ष्यविषैं जो वसत नित, लक्षण ताको नाम ।
जाके द्वार विलोकिये, लक्ष्य अबाध ललाय ॥ १९ ॥

इत्यादिक जे न्याय-मग, नय निक्षेप विधान ।
जिनवाणी सों मिलत सब, स्व-पर भेदविज्ञान ॥ २० ॥

तातैं जिनवानी नमों, अभिमतफल दातार ।
मो मनमन्दिरमें सदा, करो प्रकाश उदार ॥ २१ ॥

द्रुमिलावृत्त । (आठ सगण)

सब वस्तु अनन्त गुनातमको, जु यथारथरूप सुसिद्ध करै ।
परमान नयौर निक्षेपदशा करि, मोहमहाभ्रमभाव हरै ॥

जसु आदिसु अंत विरोध नहीं, नित लक्षण स्याद सुवाद धरै ।
वह श्री जिनशासनको भवि वृंद, अराधत प्रीति प्रतीति भरै ॥ २२ ॥

दोहा ।

पुनि प्रनमों परब्रह्ममय, पंच परमगुरु रूप ।
जासु ध्यानसे पाइये, सहज सुखामृत कूप ॥ २३ ॥

[1]आदि अकार हकार सिर, रेफनाद जुतबिंदु ।
सिद्धवीज जपि सिद्धिप्रद, पूरन शारदइन्दु ॥ २४ ॥

[2]माया वीज नमो सहित, पंचवरन अभिराम ।
मध्य वीज अरहंत जसु, स्वधा सुधारस धाम ॥ २५ ॥

निजघट–क्षीर समुद्रमधि, मन अंवुज निरमाप ।
वर्ग पत्र प्रति मध्य तसु, श्री अरहंत सुथाप ॥ २६ ॥

स्वासोस्वास निरोधिके, पूरनचन्द्र समान ।
करो ध्यान भवि वृन्द जहँ, झरत सुधा अमलान ॥ २७ ॥

पुनि वाचक इहि वरनको, शुद्धब्रह्म अरहन्त ।
सहित अनन्त चतुष्ट तिहिँ, ध्यावो थिर चित्त संत ॥ २८ ॥

इमि दृढतर अभ्यास करि, पुनि तिहि सम निजरूप ।
ध्यावो एकाकार थिर, तवहिँ होहु शिवभूप ॥ २९ ॥

ये ही मङ्गलमूल जग, सर्वोत्तम हैं येह ।
इनकी शरनागत रहो, उर धरि परम सनेह ॥ ३० ॥

१–अर्हं । २–ह्रीं ।

सत्यार्थ मोक्षमार्ग प्रवृत्तिका कथन।

श्रीमत वीर जिनिंद जब, किन्हों शिवपुर गौन।
तब इत बासठ बरस लगि, खुल्यो रह्यो शिव भौन ॥ ३१ ॥

गौतम स्वामी शिव गये, फेरि सुधर्म्मास्वांम।
पुनि जम्बू स्वामी लही, मुक्तिधाम अभिराम ॥ ३२ ॥

ऐसे पंचमकालमें, बासठ बरस प्रमान।
रह्यो केवलज्ञान इत, भ्रमतम-भंजन-भान ॥ ३३ ॥

ता पीछें श्रुतकेवली भये पञ्च परधान।
बरण एक शतके विषें, पूरन ज्ञाननिवान ॥ ३४ ॥

तिस पीछेसों एकसौ, व्यासी बरण मझार।
ग्यार अङ्ग दशपूर्वधर, भये ग्यान अनगार ॥ ३५ ॥

बरस दोयसौ वीसमें, तिन पीछे मुनि पञ्च।
भये इकादश अङ्गके, पाठी समकित संच ॥ ३६ ॥

तिस पीछेसों एकसौ, ठारे बरण मझार।
चार भये अनगार वर, एक अङ्गके धार ॥ ३७ ॥

श्री जैन सिद्धान्तोंकी रचना सम्बन्धी कथन

कवित्त छन्द (३१ मात्रा)

भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवलि, जब लग रहे यहां परधान।
तबलग द्वादशांग शासनको, रह्यो प्ररूपन पूरनज्ञान ॥
तहँ निश्चय व्यवहाररूप जो, शिवमारगका सुखद विधान।
सो परिवर्तन रह्यो जथारथ, यों भवि वृन्द करो श्रद्धान ॥ ३८ ॥

तिस पीछे इत काल दोष तें, अज्ञानकी भई विक्रिचि ।
तब कितेक मुनि शिथिलाचारी, भये किई तिन पृथक् प्रवृत्ति ॥
तिनसों श्वेतांबर मत प्रगट्यो, रचे सूत्र विपरीत अहित ।
सो अब ताईं प्रगट देखियत, यह विरोध मारगकी रित्त ॥ ३९ ॥

दोहा ।

अब वरनों जिहि भांति इत, रह्यो जथारथ पन्थ ।
श्रीजिनसूत्र प्रमाण करि, सुखददशा निग्रन्थ ॥ ४० ॥

चोपाई ।

जे जिनसूत्र सीख उर धारी, रहे आचरन करत उदारी ।
तिनकी रही जथारथ चरिया, तथा प्ररूपन श्रुत अनुसरिया ॥ ४१ ॥

तेई परम दिगम्बर जानो, साँचे ग्रन्थ पन्थ ठहरानो ।
वर्धमान शिवथान लहीते, छसौ तिरासी वरष वितीते ॥ ४२ ॥

दूजे भद्रबाहु आचारज, प्रगटे तिहि मगमें गुनभारज ।
तिनकी परिपाटीमें भाई, किते वरष पीछे मुनिराई ॥ ४३ ॥

जिन सिद्धान्तनकी परिवृत्ती, करी जाहि विधि सुनो सुवृती ।
[1]जयशशि रचित वचनिका पावन, समयसारतें लिखों सुहावन ॥ ४४ ॥

दोहा ।

एक भये धरसेन गुरु, तिनको सुनो वखात ।
जैसो ज्ञान रह्यो तिन्हें, श्रुतपथतें परमान ॥ ४५ ॥

करखा छन्द (मात्रा ३७)

अग्रणीपूर्वकै, पांचवें वस्तुका, महाकरमप्रकृति, नाम चौथा ।
इस पराभृतका, ज्ञान तिनको रहा, यहां लग अङ्गका, अंश तौ था ॥

१—पं. जयचन्द्रजीकृत समयसारकी भाषा टीका ।

सो पराभृतको भूतबलि पुष्पदन्त,
दोयमुनिको सुगुरुने पढ़ाया ।
तास अनुसार, षटखण्डके सूत्रको,
बांधिके पुस्तकोंमें मढ़ाया ॥ ४६ ॥

फिर तिसी सूत्रको, और मुनिवृन्द पढि,
रचीं विस्तार सों तासु टीका ।
धवल महाधवल जयधवल आदिक सु-
सिद्धांतवृत्तान्तपरमान टीका ॥
तिन हि सिद्धांतको, नेमिचन्द्रादि-
आचार्य, अभ्यास करिके पुनीता ।
रचे गोम्मटसारादि बहु शास्त्र यह
प्रथम सिद्धांत—उतपत्ति—गीता ॥ ४७ ॥

दोहा ।

जीव करम संजोगसे, जो संसृति परजाय ।
तासु सुगुरु विस्तार करि, इहां रूप दरसाय ॥ ४८ ॥

गुणथानक अरु मार्गना, बरनन कीन्ह दयाल ।
भविजनके उद्धारको, यह मग सुखद विशाल ॥ ४९ ॥

कवित्त छन्द (३१ मात्र)

पर्यायार्थिक नय प्रधान कर, यहां कथन कीन्हो गुरुदेव ।
याहीको अशुद्धद्रव्यार्थिक, नय कहियत हैं यों लखिलेव ॥

तथा अध्यातमीक भाषा करि, यह अशुद्ध निहचै नय भेव ।
तथा याहि विवहारहु कहिये, यह सब अनेकांतकी टेव ॥ ५० ॥

द्वितीय सिद्धान्तोत्पत्ति (कवित छन्द)

बहुरि एक गुणधर नामा मुनि, भये तिसी पथमें परधान ।
तिनको ज्ञानप्रवादपूर्वका, दशम वस्तुका त्रितिय विधान ॥

तिस प्राभृतका ज्ञान रहा तब, तिनसों नागहस्ति मुनि जान ।
तिन दोउनतें यतिनायक मुनि, तिस प्राभृतको पढ़ा निदान ॥ ५१ ॥

तब यतिनायक सुगुरु कृपाकर, तिसही प्राभृतके अनुसार ।
सूत्र चूर्णिकारूप रचा सो, छह हजारका शास्त्र उदार ॥

ताकी टीका समुद्धरन गुरु, रची सु बारह सहस विचार ।
यों आचारज परम्परातें, कुन्दकुन्द मुनि ताहि निहार ॥ ५२ ॥

दोहा ।

इस सिद्धान्तरहस्यके, कुन्दकुन्द गुरुदेव ।
रसिक भये ज्ञाता भये, नमो तिन्हे वसुभेव ॥ ५३ ॥

यों दुतीय सिद्धांतकी, है उतपत्ति पुनीत ।
परिपाटी परमान करि, लिखी इहां निरनीत ॥ ५४ ॥

मनहरण (३१ वर्ण)

यामें ज्ञानको प्रधान करिके प्रगटपने,
शुद्ध दरबारथीक नयको कथन है ।
अध्यातमबानी आतमाको अधिकार यातें,
याको शुद्ध निश्चैनय नाम हू कथन है ॥
तथा परमारथ हू नाम याको जथारथ,
इहां परजाय नय गौनता गथन है ।
परबुद्धित्यागी जो स्वरूप शुद्धहीमें रमें,
सोई कर्म नाश शिव होत यों मथन है ॥ ५५ ॥

कवित्त ।

या प्रकार गुरुपरम्परातें, मह दुतीय सिद्धान्त प्रमान ।
शुद्ध सुनयके उपदेशक इत, शास्त्र विराजत हैं परधान ॥
समयसार पंचास्तिकाय श्री, प्रवचनसार आदि सुमहान ।
कुन्दकुन्दगुरु मूल बखानें, टीका अमृतचन्द्रकृत जान ॥ ५६ ॥

कवि प्रार्थना ।

तामें प्रवचनसारकी, बांचि वचनिका मंजु ।
छन्दरूप रचना रचों, उर धरि गुरुपदकंजु ॥ ५७ ॥

कहँ परमागम अगम यह, कहँ मम मति अतिहीन ।
शशि सपरशके हेतु जिमि, शिशु कर ऊंचौ कीन ॥ ५८ ॥

तिमि मम निरख सुधीरता, हँसि कहिहैं परवीन ।
काक चहत पिक-मधुर-धुनि, मूक चहत कवि कीन ॥ ५९ ॥

चौपाई ।

यह परमागम अगम बताई । मो मति अल्प रचत कविताई ।
सो लख हँसि कहिहैं मति धीरा । शिरिष सुमन करि वेधत हीरा ॥ ६० ॥

दोहा ।

बाल मराल चहै जथा, मन्दिर मेरु उठाव ।
बालवुद्धि भवि वृन्द तिमि, करन चहत कविताव ॥ ६१ ॥

पूरव सुकवि सहायतें, जिनशासनकी छाँहिं ।
हूं यह साहस कीन हैं, सुमरि सुगुरु मानमांहिं ॥ ६२ ॥

मूलग्रन्थ अनुसार जो, भाषा बनै प्रबंध ।
तौ उपमा सांची फबै, "सोना और सुगंध" ॥ ६३ ॥

चौपाई ।

मैं तो बहुत जतन चित राखी । रचिहौं छंद जिनागम साखी ।
पै प्रमादतें लखि कहुँ दूषन । शोधि शुद्ध कीजे गुनभूषन ॥ ६४ ॥

दोहा ।

सज्जन चाल मराल सम, औगुन तज गुन लेत ।
[1]शारदवाहन वारि तज, ज्यों पयपान करेत ॥ ६५ ॥

षट्पद ।

जब लगि वस्तु विचार करत, कवि काव्य करनहित ।
तब लगि विषयविकार रुकत, शुभध्यान रहत चित ॥
ऐसे निजहित जान, बहुरि जब जगमें व्यापत ।
तब जे बाँचहिं सुनहिं, तिन्हें है ज्ञान पगापत ॥
यों निज परको हित हेत लखि, वृन्दावन उद्यम करत ।
परमागम प्रवचनसारकी, छंदबद्ध टीका धरत ॥ ६६ ॥

प्रवचनसारग्रन्थस्तुति ।

जय जय अनेकान्त दुतिधार । पय पय सुपरबोध करतार ।
लय लय करत [2]सुधारस धार । जय जय जो श्रीप्रवचनसार ॥ ६७ ॥

---

१. हंस । २ दूसरी प्रतिमें 'समामृत' पाठ है ।

अरिल्ल छन्द ।

द्वादशांगको सार जु सुपरविचार है ।
सो संजमजुत गहत होत भवपार है ॥
तासु हेत यह शासन परम उदार है ।
यातें प्रवचनसार नामनिरधार है ॥ ६८ ॥

मूलग्रन्थकर्त्ता श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकी स्तुति ।

अशोकपुष्पमंजरी ।

जासके मुखारविंदतें प्रकाश भास वृन्द ।
स्यादवाद जैन वैन इन्दु कुन्दकुन्दसे ॥
तासके अभ्यासतें विकास भेदज्ञान होत ।
मूढ सो लखै नहीं कुवुद्धि कुन्दकुन्दसे ॥
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द्र चन्द्र जाहि ।
मोह–मार–खंड मारतंड कुन्दकुन्दसे ॥
शुद्धवुद्धिवृद्धिदा प्रसिद्धरिद्धिसिद्धिदा ।
हुए, न हैं, न होंहिंगे, मुनिंद कुंदकुंदसे ॥ ६९ ॥

इति भूमिका ।

ओं नमः सिद्धेभ्यः

काशीनिवासी कविवरवृन्दावनविरचित—

प्रवचनसार

[1]मंगलाचरण। षट्पद।

स्वयं सिद्धिकरतार, करै निज कर्म शर्मनिधि।
ओपै करण स्वरूप, होय साधन सोधै विधि॥
संप्रदानता धरै, आपको आप समप्पै।
अपादानतैं आप, आपको थिर कर थप्पै॥
अधिकरण होय आधार निज, वरतै पूरणब्रह्म पर।
इमि षट्विधिकारकमय रहित, विविध एक विधि अज अमर॥ १॥

दोहा।

महततत्त्व महनीय मह, [2]महाधाम गुणधाम।
चिदानन्द परमातमा, वंदौं रमताराम॥ २॥

कुनयदमनि सुवचन अवनि, रमन स्यातपद शुद्धि।
जिनवानी मानी [3]मुनिप, घटमें करहु सुबुद्धि॥ ३॥

चौपाई।

पंच इष्ट पदकें पद वन्दों। सत्यरूप गुरुगुण अभिनन्दों।
प्रवचनसार ग्रंथकी टीका। बालबोध भाषामय नीका॥ ४॥

---

१. यह प्रथम मंगलाचरण षट्पद पं. हेमराजजी कृत है।
२. तेज। ३. मुनिराज।

रचौं आप परको हितकारी। भव्य जीव आनन्दविथारी।
प्रवचन जलधि अर्थ जल लैहै। मति-भासन-समान जल पैहै ॥ ५ ॥

दोहा।

अमृतचंद्रकृत संसकृत, टीका अगम अपार।
तिन अनुसार कहौं कछू, सुगम अल्प विसतार ॥ ६ ॥

(१)

गाथा १ से ५ तक मंगलाचरण सहित नमस्कार तथा चारित्रका फल

(१)

मतगयन्द।

श्रीमत वीर जिनेश यही, तिनके पद वंदत हौं लवलाई।
वन्दत वृन्द सुरिन्द जिन्हें, असुरिन्द नरिन्द सदा हरषाई ॥
जो चउ घातिय कर्म महामल, धोइ अनन्त चतुष्टय पाई।
धर्म दुघातमके करता प्रभु, तीरथरूप त्रिलोकके राई ॥ ७ ॥

चौपाई।

वरतत है शासन अब जिनको। उचित प्रनाम प्रथम लिख तिनको।
कुंदकुंद गुरु वन्दन कीना। स्यादवादविद्या परवीना ॥ ८ ।

(२)

मनहरण।

शेष तीरथेश वृषभादि आदि तेईस औ,
सिद्ध सर्व शुद्ध बुद्धिके करंडवत हैं।
जिनको सदैव सदभाव शुद्धसत्ताहीमें,
तारनतरनको तेई तरंडवत हैं ॥

आचारज उवझाय साधुके सुगुन ध्याय,
पंचाचारमांहि वृन्द जे अखंडवत है ।
येई पंच पर्म इष्ट देत हैं अमिष्ट शिष्ट,
तिनें भक्ति भावसों हमारी दंडवत है ॥ ९ ॥

दोहा ।

देव सिद्ध अरहंतको, निज सत्ता आधार ।
सूर साधु उवझाय थित, पंचाचारमझार ॥ १० ॥

ज्ञान दरंश चारित्र तप, वीरज परम पुनीत ।
येही पंचाचारमें, विचरहिं श्रमण सनीत ॥ ११ ॥

(३)

अशोकपुष्पमंजरी ।

पंच शून्य पंच चार योजन प्रमान जे,
मनुष्यक्षेत्रके विषै जिनेश वर्तमान हैं ।
तासके पदारविंद एक ही सु वार वृन्द,
फेर भिन्न भिन्न वंदि भव्य-अब्ज-भान हैं ।
वर्तमान भर्तमें अबै सुवर्तमान नाहिं,
श्रीविदेहथानमें सदैव राजमान हैं ।
द्वैत औ अद्वैतरूप वन्दना करौं त्रिकाल,
सो दयाल देत रिद्धि सिद्धिके निधान हैं ॥ १२ ॥

दोहा ।

आठौं अंग नवाइकै, भूमें दंडाकार ।
मुखकर सुजस उचारिये, सो वन्दन विवहार ॥ १३ ॥

निज चैतन्य सुभावकरि, तिनसों ह्वै लवलीन ।
सो अद्वैत सुवन्दना, भेदरहित परवीन ॥ १४ ॥

(४)

माधवी ।

करि वंदन देव जिनिंदनकी, ध्रुव सिद्ध विशुद्धनको उर ध्यावों ।
तिमि सर्व गनिंद गुनिंद नमों, उदघाट कपाटक ठाट मनावों ॥
मुनि वृन्द जिते नरलोकविषैं, अभिनंदित ह्वै तिनके गुन गावों ।
यह पंच पदस्त प्रशस्त समस्त, तिन्हें निज मस्तक हस्त लगावों ॥ १५ ॥

(५)

इनके विसरामको धाम लसै, अति उज्ज्वल दर्शनज्ञानप्रधाना ।
जहं शुद्धुपयोग सुधारस वृन्द, समाधि समृद्धिकी वृद्धि वखाना ॥
तिहिको अवलंबि गहों समता, भवताप मिटावन मेघ महाना,
जिहितें निरवान सुथान मिलै, अमलान अनूपम चेतन वाना ॥ १६

(६)

दो प्रकार—चारित्र और फल ।

चौवोला ।

जो जन श्री जिनराजकथित नित, चित्तविषैं चारित्त धरै ।
सम्यकदर्शनज्ञान जहां, अमलान विराजित जोति भरै ॥
सो सुर इन्द वृन्द सुख भोगै, असुर इन्दको विभव वरै ।
होय नरिंद सिद्धपद पावै, फेरि न जगमें जन्म धरै ॥ १७

(७)

सत्यचारित्र ।

निहचै निज सुभावमें थिरता, तिहि चरित कहँ धरम कहै ।
सोई पर्म धर्म समनामय, यो सर्वज्ञ कृपाल महै ॥
जामें मोह क्षोभ नहिं व्यापत, चिद्विलास दुति वृन्द गहै ।
सो परिनामसहित आतमको, शाम नाम अभिराम कहै ॥ १८ ॥

दोहा ।

चिदानन्द चिद्रूपको, परम धरम शमभाव ।
जामें मोह न राग रिस, अमल अचल थिर भाव ॥ १९ ॥

सोई विमल चरित्र है, शुद्ध सिद्धपदहेत ।
शामसरूपी आतमा, भविक वृन्द लखि लेत ॥ २० ॥

(८)

आत्मा ही चारित्र है ।

सवैया छंद ।

जब जिहि परनति दरब परनमत, तब तासों तन्मय तिहि काल ।
श्रीसर्वज्ञकथित यह मारग, मथित गुरु गनधर गुनमाल ॥
तातैं धरम स्वभाव परिनवत, आतमहूको धरम सम्हाल ।
धरमी धरम एकता नयकी, इहां अपेक्षा वृन्द विशाल ॥ २१ ॥

दोहा ।

वीतराग चारित्र है, परम धरम निजरूप ।
ताके धारत जीवको, धर्म कह्यो जिनभूप ॥ २२ ॥

एक एक धरमीविषैं, वसत अनन्ते धर्म ।
मिलत न काहूसों कोई, यह सुभावगति पर्म ॥ २३ ॥
जब धरमी जिहि धरमकी, प्रनवत जुत निज शक्त ।
तब तासों तन्मय तहां, होत शक्ति करि व्यक्त ॥ २४ ॥
तातें आतमराम जब, धरै शुद्ध निज धर्म ।
तब ताहूको नाम गुरु, कह्यो धर्म तजि भर्म ॥ २५ ॥
[1]अयमय गोला अगनितें, लाल होत जिहि काल ।
अनल ताहि तब सब कहत, देखो बुद्धि विशाल ॥ २६ ॥
तैसे जिन जिन धर्म करि, प्रणवहि वस्त समस्त ।
तन्मय तासों होहिं तब, यह सुभाव अनअस्त ॥ २७ ॥
अग्नि पृथक गोला पृथक, यह सजोगसंबंध ।
त्यों धर्मी अरु धर्ममें, भेद नहीं है खंध ॥ २८ ॥
सिख संबोधनको सुगुरु, देत विदित दृष्टांत ।
एकदेश सो व्यापता, सुनों भविक तजि भ्रांत ॥ २९ ॥
धर्मी धर्म दुहूनको तादात्मक सम्बन्ध ।
है प्रदेश प्रति एकता, सहज सुभाव असंध ॥ ३० ॥

(९)

जीवके परिणाम-उपयोगमें तीन प्रकार ।

षट्पद ।

जब यह प्रनवत जीव, दयादिक शुभपयोग मय ।
अथवा अशुभ स्वभाव गहत, जहँ विषय भोग लय ॥

---

[1] लोहमयी ।

किंवा शुद्धुपयोगमयी, जहँ सुधा वहावत ।
जुत परिनामिक भाव, नाम तहँ तैसो पावत ॥
जिमि सेत फटिक वश झांकके, झांक वृन्द रंगत गहत ।
तजि झांक झांक जब झांकियत, तव अटांक सदपद महत ॥ ३१ ॥

(१०)

परिणाम वस्तुका स्वभाव है।

सोरठा ।

दरबन विन परिनाम, परनति दरब विना नहीं ।
दरब गुनपरजधाम, सहित अस्ति जिनवर कही ॥ ३२ ॥

मनहरण ।

केई मूढ़मती कहें द्रव्यमें न गुन होत,
द्रव्य और गुननको न्यारो न्यारो थान है ।
गुनके गहनतैं कहावै द्रव्य गुनी नाम,
जैसे दंड धारै तब दंडी परधान है ॥
तासौं स्यादवादी कहै यह तो विरोध बात,
विना गुन द्रव्य जैसे खरको विषान है ।
बिन परिनाम तेनें द्रव्य पहिचाने कैसे,
परिनामहूको कहा थान विद्यमान है ॥ ३३ ॥

देखो एक गोरस त्रिविधि परिनाम धरै,
दूध दधि घृतमें ही ताको विस्तार है ।
तैसे ही दरब परिनाम विना रहै नाहिं,
परिनामहूको वृन्द दरब अधार है ॥

गुनपरजायवन्त द्रव्य भगवन्त कही,
सुभाव सुभावी ऐसे गही [1]गनधार है ।
जैसे हेम द्रव्य गुन गौरव सुपीततादि,
परजाय कुण्डलादिमई निरधार है ॥ ३४ ॥

जैसे जो दरब ताको तैसो परिनाम होत,
देखो भेदज्ञानसों न परौ दौर धूरमें ।
तातैं जब आतमा प्रनवै शुभ वा अशुभ,
अथवा विशुद्धभाव सहज स्वरूपमें ॥
तहां तिन भावनिसों तदाकार होत तब,
व्याप्य अरु व्यापकको यही धर्म रूपमें ।
कुन्दकुन्द स्वामीके वचन कुन्द इन्दुसे हैं,
धरो उर वृन्द तो न परौ भवकूपमें ॥ ३५ ॥

(११)

दो प्रकारके चारित्रका (शुद्ध और शुभ) परस्पर विरुद्ध फल

मत्तगयन्द ।

धर्म सरूप जबै प्रनवै यह, आतम आप अध्यातम ध्याता ।
शुद्धुपयोग दशा गहिकै, सु लहै निरवान सुखामृत ख्याता ॥
होत जबै शुभरूपपयोग, तबै सुरगादि विभौ मिलि जाता ।
आपहि है अपने परिनामनिको फल भोगनहार विधाता ॥ ३६ ॥

मोतीदाम ।

जबै जिय धारत चारित शुद्ध । तबै पद पावत सिद्ध विशुद्ध ।
सराग चरित्त धरै जब चित्त, लहे सुरगादि विषैं वर वित्त ॥ ३७ ॥

---

१ गणधरदेव ।

दोहा ।

तातैं शुद्धुपयोगके, जे सम्मुख हैं जीव ।
तिनको शुभ चारित्रमहँ, रमनो नाहिं सदीव ॥ ३८ ॥

(१४)

अशुभ परिणामोंका फल

माधवी ।

अशुभोदयसे यह आतमराम, अनंत कलेश निरंतर पायो ।
कुमनुष्य तथा तिरजंचनिमें, बहुधा नरकानलमें पचि आयो ॥
नहिं पार मिल्यो परिवर्त्तनको, इहि भांति अनादि कुकाल गमायो ।
अब आतम धर्म गहो सुखकन्द, जिनिंद जथा भवि वृन्द बतायो ॥ ३९ ॥

दोहा ।

महा दुःखको बीज है, अशुभरूप परिणाम ।
याके उदय अनन्त दुख भुगते आतमराम ॥ ४० ॥

दारिद दुखनर नीचपद, इत्यादिक फल देत ।
नारकगति तिरजंचगति, याको सहज निकेत ॥ ४१ ॥

तातै तजिये सर्वथा, अव्रत विषय—कषाय ।
याके उदय न बनि सकत, एकौ धर्म उपाय ॥ ४२ ॥

शुभ परिनामनके विषैं, है विवहारिक धर्म ।
दया दान पूजादि बहु, तप संयम शुभकर्म ॥ ४३ ॥

ताहि कथंचित धारिये, लखिये आतमरूप ।
शिवमगको सहकार यह, यों भाखी जिनभूप ॥ ४४ ॥

(१३)

शुभ-अशुभ वृत्तिका तिरस्कार और शुद्धोपयोगका सन्मान

मनहरण ।

शुद्ध उपयोग सिद्ध भयो हैं प्रसिद्ध जिन्हें ।
एसो सिद्ध अरहंतनके गाययतु है ॥
आतम सुभावतैं उपजो साहजिक सुख ।
सबतैं अधिक अनाकुल पाइयतु है ॥
अक्ष पक्षतैं विलक्ष विषैसों रहित स्वच्छ ।
उपमाकी गच्छसों अलक्ष ध्याइयतु है ॥
निराबाध हैं अनन्त एकरस रहैं संत ।
ऐसे शिवकंतकी शरन जाइयतु है ॥ ४५ ॥

(१४)

शुद्धोपयोग परिणतिका स्वरूप

शुद्धउपयोग जुक्त जति जे विराजत हैं ।
सुनो तासु लच्छन विचच्छन बुधारसी ॥
भलीभांति जानत यथारथ पदारथको ।
तथा श्रुतसिंधु मथि धारत सुधारसी ॥
संजमसों पंडित तपोनिधान पंडित हैं ।
राग-द्वेष खंडिके विहंडत सुधारसी ॥
जाके सुख-दुखमें न हर्ष-विषाद वृन्द ।
सोई पर्म धर्म धार धीर मो उधारसी ॥ ४६ ॥

दोहा ।

जो मुनि सुपरविभेद धरि, करे शुद्ध सरधान ।
निजस्वरूप आचरनमें, गाड़ै अचल निशान ॥ ४७ ॥

सकल सूत्र सिद्धान्तको, भलिभांति रस लेत ।
तप संजम साधै सुधी, राग दोष तजिदेत ॥ ४८ ॥

जिवन मरण विषै नहीं, जाके हरष विषाद ।
शुद्धपयोगी साधु सो, रहित सकल अपवाद ॥ ४९ ॥

(१५)

शुद्धोपयोगकी पूर्णता—केवलज्ञानकी प्राप्ति

मत्तगयंद ।

जो उपयोग विशुद्ध विभाकर, मंडित है चिन्मूरतराई ।
सो वह केवलज्ञान धनि, सब ज्ञेयके पार ततच्छन जाई ॥
घाति चतुष्टय तास तहाँ, स्वयमेव विनाश लहैं दुखदाई ।
शुद्धपयोग परापति प्राप्ति की महिमा यह वृन्द मुनिंद न गाई ॥५०॥

षट्पद ।

जिस आतमके परम सुद्ध, उपयोग सिद्ध हुव ।
तिसके जुग आवरन, मोहमल विघन नास ध्रुव ॥
सकल ज्ञेयके पार जात सो, आप ततच्छन ।
ज्ञान फुरन्त अनन्त, सोई अरहंत सुलच्छन ॥
महिमा महान अमलान नव, केवल लाभ सुधाकरन ।
शिवथानदान भगवानके, वृन्दावन वंदत चरन ॥ ५१ ॥

(१६)

अन्य कारकोंसे निरपेक्ष-स्वयंभू आत्मा

मनहरण ।

ताही भाँति विमल भये जे आप चिदानन्द ।
तासको स्वयंभू नाम ऐसो दरसायो है ॥
प्रापत भये अनन्त ज्ञानादि स्वभावगुन ।
आपहीते आपमाहिं सुधा बरसायो है ॥
सोई सरवज्ञ तिहूँकालके समस्त वस्त ।
हस्तरेखसे प्रशस्त लखै सरसायो है ॥
ताहीके पदारविंद देवइन्द नागइन्द ।
मानुषेंद वृन्द वंदि पूज हरषायो है ॥ ५२ ॥

षट्कारक निरूपण

दोहा ।

निजस्वरूप प्रापतिविषैं, पर सहाय नहिं कोय ।
षट्प्रकार कारकनिमें, यह आतम थिर होय ॥ ५३ ॥

तासु नाम लक्षण सुगम, कहों जथारथरूप ।
जैनबैनकी रीतिसों, ज्यों गुरु कथित अनूप ॥ ५४ ॥

करता करम करन तथा, संप्रदान उर आन ।
अपादान पुनि अधिकरन, ये षट्कारक मान ॥ ५५ ॥

गीतिका ।

स्वाधीन होइ करै सोई, करतार ताको जानिये ।
करतारकी करतूतिको, कहि करम कारक मानिये ॥

जाकरि करमको करत कर्ता, करन ताको नाम है ।
वह करम जाको देत संप्रदानसो सरनाम है ॥ ५६ ॥

पूर्व अवस्था त्याग कर जो, होत नूतन काज है ।
सो जानियो पंचमों कारक अपादान समाज है ॥
जाके अधार बनै करम, अधिकरन सोई ठीक है ।
यह नाम लक्षण है विचच्छन छहोंकी तहकीक है ॥ ५७ ॥

भुजंगी ।

जहाँ औरकी मान नैमित्तता, करै है सुधी काजकी सिद्धता ।
तहां है असद्भूतुपचारता, कोई द्रव्य काहूको ना धारता ॥ ५८ ॥

मनहरन ।

जैसे कुम्भकार करतार घट कर्म करै ।
दंड चक्र आदि ताके साधन करन है ॥
जब घट कर्मको बनाय जलहेत देत ।
तहाँ संप्रदान नाम कारक वरन है ॥
पूरव अवस्था मृतपिंडको विनाश भये ।
घट निरमये अपादानता धरन है ॥
भूमिके अधार घट कर्मको बनावत है,
तहाँ अधिकर्न होत संशय हरन है ॥ ५९ ॥

दोहा ।

यामें करतादिक पृथक्, यातें यह व्यवहार ।
सम्यकबुद्धि पसारकें समझ लेहु श्रुतिद्वार ॥ ६० ॥

लक्ष्मीधरा।

आप ही आपतें आपको साधता,
औरकी नाहिं, आधार आराधता।
नाम निश्चै यही सत्य है सासता,
स्यादवादी विना कौनको भासता ॥ ६१ ॥

षट्पद।

ज्यों माटी करतार, सहज सत्ता प्रमानमय।
अपने घट परिनाम, करमको आप करत हय ॥
आपहि अपने कुम्भकरनको, साधन हो है।
आप होय घट कर्म, आपको देत सु सोहै ॥
आप ही अवस्था पूर्वकी, त्यागि होत घटरूप चट।
अपने अधार करि आप ही, होत प्रगट घटरूप ठट ॥ ६२ ॥

सहज सकति स्वाधीन, सहित करतार जीव ध्रुव।
करत शुद्ध सरवंग, आपको यही करम हुव ॥
निज परनतिकरि करत, आपको शुद्ध करन तित।
सो गुन आपहि आप, देत यह संप्रदान हित ॥
तजि समल विमल आपहि वनत, अपादान तव उर धरन।
करि निजाधार निजगुन अमल, तहां आप सो अधिकरन ॥ ६३ ॥

चौबोला।

जब संसार दशा तज चेतन, शुद्धपयोग स्वभाव गहै
तब आपहि षट्कारकमय है, केवलपद परकाश लहै ॥
तहां स्वयंभू आप कहावत, सकल शक्ति निज व्यक्त अहै।
चिद्विलास आनन्दकन्द पद, वंदि वृन्द दुखद्वंद दहै ॥ ६४ ॥

(१७)

इस स्वयंभू आत्माको शुद्धत्व प्राप्तिका अत्यंत अविनाशीपना और कथंचित् उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व

द्रुमिला ।

तिस ही अमलान चिदातमके, निहचै करि वर्तत है जु यही ।
उतपात भयो जो विशुद्ध दशा, तिसको न विनाश लहै कब हीं ॥
अरु भंग भये परसंगिक भावनिको उतपाद नहीं जो नहीं ।
पुनि है तिनके ध्रुव वै उतपाद, सदीव सुभाविकमाहिं सही ॥ ६५ ॥

दोहा ।

शुद्धुपयोग अराधिके, सिद्ध भये सरवंग ।
जे अनन्त ज्ञानादिगुन, तिनको कबहुं न भग ॥ ६६ ॥

अरु अनादिके करम मल, तिनको भयो विनाश ।
सो फिर कबहुं न ऊपज, जहां शुद्ध परकाश ॥ ६७ ॥

पुनि ताही चिद्रूपके वर्तते है यह धर्म ।
उपजन विनशन ध्रुव रहन, साहजीक पद पर्म ॥ ६८ ॥

द्रव्यदृष्टिकर ध्रौव्य है, उपजत विनशत पर्ज ।
षट्गुनहानरु वृद्धि करि, वरनत श्रुति भ्रम वर्ज ॥ ६९ ॥

(१८)

उत्पादादि तीनों प्रकार सिद्ध भगवानको भी हैं ।

मनहरण ।

जेते हैं पदारथके जात विद्यमान तेते,
उतपाद व्यय भाव धरें सदाकाल है ।

अर्थ परजायमें कि विंजन परजमाहिं,
अथवा विभावकै स्वभाव पर्जपाल है ॥
याहीके अधार निराधार निज सत्ताधार,
निजाधार निराबाध द्रव्य गुनमाल है ।
कुन्दकुन्द इन्दुके वचन अमी वृन्द पियो,
जाको इन्द-चन्द-वृंद वंदत त्रिकाल है ॥ ७० ॥

किरीट ।

जो जगमें सब वस्तु विराजत, सो उतपादरु व्यै ध्रुव धारक ।
हैं परजाय सुभावमई कि विभाव कि अर्थ कि विंजन कारक ॥
है इनही करकें तिनकी, तिहुँकाल विषैं सदभाव उदारक ।
या विन द्रव्य सधै न किसी विधि, यों श्रुतिसिन्धु मथी गनधारक ॥ ७१ ॥

मत्तगयन्द ।

कुण्डलरूप भयो जब कंचन, कंकनता तब ही तज दीनों ।
ध्रौव्य दुहूमहँ आपहि है, गुन गौरव पीत सचिक्कन लीनों ॥
त्यों सब द्रव्य सदा प्रनवै, परजाय विषैं गुन संग धरीनो ।
तीन विहीन नहीं कोउ वस्तु, यही उनको सदभाव प्रवीनो ॥ ७२ ॥

मनहरण ।

धरम अधरम अकाश काल चारों द्रव्य,
सहज सुभाव परजायमाहिं रहे हैं ।
षटगुनी हानि वृद्धि करें समै समै माहिं,
अगुरुलघुगुनके द्वार ऐसे कहे हैं ॥
गतिथिति अवकाश वर्तना गुन निवास,
चारोंमें यथोचित स्वसत्ताही को गहे हैं ।

जीव पुद्गलमें विराजैं दोऊ परजाय,
विभाव तथा सुभाव जब जैसो रहै हैं ॥ ७३ ॥

दोहा ।

ज्यों मानुष तन त्यागिकै, उपजत सुरपुर जीव ।
दुहूं दशामें आप ध्रुव, इमि तिहु सधत सदीव ॥ ७४ ॥
अथवा सिद्धदशा विषैं, ऐसे साधी साध ।
समल दशा तजि अमल हुव, वह ध्रुव जीव अबाध ॥ ७५ ॥
अथवा ज्ञानादर्शमें दरसि रहै सब ज्ञेय ।
ज्ञेयाकार सुज्ञान तहँ, होत प्रतच्छ प्रमेय ॥ ७६ ॥
तिन ज्ञेयनकी त्रिविध गति, जिह जिह भांति सुहोत ।
तिहि तिहि भांति सुज्ञान वह, प्रनवत सहज उदोत ॥ ७७ ॥
याही भांति प्ररूपना, सिद्ध दशाके मांह ।
उतपतव्ययध्रुवकी सधत, अनेकांतकी छांह ॥ ७८ ॥
षटगुनि हानिरु वृद्धिकी, जा विधि उठत तरंग ।
सहज सुभाविक भावमें, सोऊ सधत अभंग ॥ ७९ ॥
उपजन विनशन ध्रौव्यके, विना द्रव्य नहिं होय ।
साधी गुरु सिद्धान्तमें, बाधी तहाँ न कोय ॥ ८० ॥

प्रश्न— शिखरिणी ।

कहो उत्पादादी त्रिविधिकर अस्तित्व तुमने ।
सुनी मैंने नीके उठत तब शंका मुझ मने ॥
त्रिधा काहे भाषो, ध्रुवहि करिके क्यों नहिं कहो ।
कहा यातें नाहीं सधत ? सब वस्तें मुनि महो ॥ ८१ ॥

उत्तर— अनङ्गशेखर। (दंडक ३२ वर्ण)

पदार्थको जु ध्रौव्यरूप एक पच्छ मानिये,
तु तासुमें प्रतच्छ दोष लच्छ लच्छ जानिये ।
कुटस्थ रूप राजतौ प्रवृत्त त्याजि भाजतौ,
विराजतौ सदैव एक रूप ही वखानिये ॥
सु तौ नहीं विलोकिये विलोकिये त्रिधातमीक,
एक वस्तुकी दशा अनेक होत मानिये ।
सुवर्ण कुण्डलादि होत दूधतें घृतादि जोत,
मृत्तिका घटादिको तथैव सो प्रमानिये ॥ ८२ ॥

दोहा ।

दरवमाहिं दो शक्ति हैं, भापी गुन परजाय ।
इन विन कबहुँ न सधि सकत, कीजे कोटि उपाय ॥ ८३ ॥

नित्य तदातमरूपमय, ताको गुन है नाम ।
जो क्रमकरि वरतै दशा, सो परजाय ललाम ॥ ८४ ॥

कहीं कहीं है द्रव्यकी, दोइ भाँति परजाय ।
नित्यभूत तद्रूप इक, दुतिय अनित्य बताय ॥ ८५ ॥

नित्यभूतको गुन कहैं, दुतिय अनित्य विभेद ।
ताहि कही परजाय गुरु, यह मत प्रबल अछेद ॥ ८६ ॥

तिन परजायकरि दरव, उपजत विनशत मान ।
ध्रौव्यरूप निजगुणसहित, दुहूँ दशामें जान ॥ ८७ ॥

याही कर सद्भाव तसु, यह है सहज स्वभाव ।
यहां तर्क लागै नहीं, वृथा न गाल बजाव ॥ ८८ ॥

उक्तं च देवागमे—चोपाई ।

श्रीगुरु त्रिविधि तत्त्वको साधत । प्रगट दिखावत हैं निरबाधत ।
घट परजाय धरै जो सोना । ताहि नाशि करि मुकुट सु होना ॥ ८९ ॥

तहां कुम्भ सो जो रुचि रेखी । ताके होत विषाद विशेखी ।
मौलि बनेंतें जाके प्रीती । ताके हरष होत निरनीती ॥ ९० ॥

जाके सोनाहीसों काजा । सो दुहुमें मध्यस्थ विराजा ।
तब कहु दरव त्रिविधि नहिं कैसे ? प्रगट विलोक हेतु जुत ऐसे ॥ ९१ ॥

गोरस एक त्रिविधि परनवै । दूध दधी घृत जग वरनवै ।
प्रनवन सकति नहीं तामाहिं । तब किहि भाँति त्रिविधि हो जाहिं ॥ ९२ ॥

देखो ! प्रथम दूध रस रहा । दधि होते गुन औरै गहा ।
घृत होते फिर औरहि भयो । स्वाद भेद गुन औरहि लयो ॥ ९३ ॥

दूधव्रती दधि घृतको खाता । दधिव्रती घृत दूध लहाता ।
घृतव्रतधारी पय दधि गहै । पृथक तत्त्व तब क्यों नहिं अहै ॥ ९४ ॥

एकै रूप जु गोरस होतो । तीन दशा तब किमि उद्दोतो ।
तातें तत्त्व त्रिधातम सही । न्यायसिंधु मथि श्रीगुरु कही ॥ ९५ ॥

(१९)

उसको इन्द्रियोंके बिना ज्ञान-सुख कैसे ? समाधान ।

मत्तगयंद ।

जो चहु घातिय कर्म विनाशि, अतिंद्रियरूप भयो अमलाना ।
ताहि अनन्त जगे वर बीजरु, तेज अनन्त अपार महाना ॥

सो वह आपहि ज्ञान सुखादि, सरूपमयी प्रनयौ भगवाना ।
जासु विनाश नहीं कबहीं, गुन वृन्द चिदानंदकंद प्रधाना ॥ ९६ ॥

(२०)

केवलीको शारीरिक सुख-दुःख नहीं है।

केवल ज्ञानधनी भगवानकी, रीति प्रधान अलौकिक गई ।
देह धरें तउ देहज दुःख, सुखादि तिन्हें नहिं होत कदाई ॥
जातें अतिंद्रिय रूप भये सुख, छायक वृन्द सुभायक पाई ।
तातें तिन्हें न विकार कछू, अविकार अनन्तप्रकार बताई । ९७ ॥

दोहा ।

सकल घात संघात हत, प्रगट्यो बीज अनन्त ।
परम अतिंद्रिय सुखमयी, जाको कबहुँ न अनन्त ॥ ९८ ॥

ताको जे मतिमंद शठ, भाषैं कवलाहार ।
धिग है तिनकी समुझिको, बार बार धिक्कार ॥ ९९ ॥

गुनथानक छट्टम विषैं होत अहार विहार ।
ताके ऊपर ध्यानगत, तहां न भुक्ति लगार ॥ १०० ॥

जे तेरम गुनथानमें, अचल चहूँ अरि जार ।
छायकलब्धिस्वभाव जहँ, तहँ किमि कवलाहार ? ॥ १०१ ॥

क्षुधा त्रपा बाधा करै, इन्द्री पीड़ैं प्रान ।
यह तो गति संसारमें, जगजीवनकी जान ॥ १०२ ॥

जहां अतिंद्रिय सुखसहित, चिदानन्द चिद्रूप ।
तहां कहां बाधा जहां, प्रगटी शकति अनूप ॥ १०३ ॥

मोह करम विन वेदनी, निरविष विषधर जेम ।
जरी जेवरी वलरहित, अवल अघाती तेम ॥ १०४ ॥

सकल अनंतानंत जस, प्रगट भयो निरबाध ।
तहँ चेतन तनसहित कहँ, लगत न तनिक उपाध ॥ १०५ ॥

निजानन्द रसपान तहँ, चिदानन्द कहँ होत ।
नोतनकरमसुवरगना, तिनकरि काय उदोत ॥ १०६ ॥

कर्मवरगना प्रति समय, पूर्वबंध संजोग ।
आय लगहिं पुनि झरपरहिं टिकहिं न विन उपयोग ॥ १०७ ॥

निविड़ मोहनी विघन अरु, ज्ञान दर्शनावर्न ।
इनहिं नाशि निर्मल भये, अमल अचल पद धर्न ॥ १०८ ॥

ते सांचे सर्वज्ञ हैं, तेई आप्त प्रधान ।
तिनके वचन प्रमान हैं, भवि–उर–भ्रम–तम भान ॥ १०९ ॥

(२१)

वहाँ पूर्ण ज्ञान और सुख ।

षट्पद ।

ज्ञानरूप परिनये, आपु जे केवलज्ञानी ।
तिनके सकलप्रतच्छ, द्रव्य गुन-परज-प्रमानी ॥
सो नहिं जानहिं ताहि, अवग्रह आदि क्रियाकर ।
जातें यह छदमस्थ, ज्ञानकी रीति प्रगट तर ॥
निहचै सो श्रीभगवानके, सकल आवरन नाश हुव ।
सर्वावभास निज ज्ञानमें, लोकालोक प्रतच्छ धुव ॥ ११० ॥

(२२)

उन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं ।

षट्पद ।

इस भगवान महान, केवलज्ञान धनीकहँ ।
रह्यो न कछू परोक्ष, वस्तुके जानपने महँ ॥
जातें इन्द्रियरहित, अतीन्द्रियरूप विराजै ।
अरु सरवंग समस्त, अच्छके गुन छवि छाजै ॥
स्वयमेव हि ज्ञान सुभावकी, प्रापति है जिनके विमल ।
तिनको प्रतच्छ तिहुँ लोकके, वस्तु वृन्द झलकहिं सकल ॥ १११ ॥

(२३) प्रमाणज्ञान सर्वगत ।

मनहरण ।

ज्ञान गुनके प्रमान आतमा विराजमान,
जैसे हेम गुन पीत गौरवादिको धरै ।
सोई ज्ञानगुन ज्ञेयके प्रमान भापै जथा,
अग्नि गुन उष्ण जितौ ईंधन तितौ जरै ॥
ज्ञेयको प्रमान वृन्द, लोक औ अलोक सर्व,
तासुको विलोकत प्रतच्छरेखा ज्यों करै ।
ताहीतें सरवगति ज्ञानको सुसिद्ध करी,
स्वामीके वचन अनेकान्त रससों भरै ॥ ११२ ॥

(२४–२५)

उनमें दोष कल्पनाका निराकरण

ज्ञान गुनके प्रमान आतमा न मानत हैं,
ऐसे जो अजान इस लोकमें कुमती हैं ।

ताके मतमाहिं गुन ज्ञानतें अधिक हीन,
होत ध्रुवरूप वह आतमाकी गती है ॥
से तो ज्ञानहीन ते तो जड़के समान भयो,
अचेतन तामें कहां ज्ञायक-शकती है ।
अधिक बखाने तो प्रमाने कैसे ज्ञान विना,
ऐसे परतच्छ स्वामी दोनों पच्छ हती हैं ॥ ११३ ॥

दोहा ।

जथा अगनि गुन उष्णतें, हीन अधिक नहिं होत ।
तथा आतमा ज्ञान गुन, सहित बराबर जोत ॥ ११४ ॥

अन्वय अरु व्यतिरेकता, ज्ञान आतमामाहिं ।
विना ज्ञान आतम नहीं, आतम विनु सो नाहिं ॥ ११५ ॥

जहां जहां है आतमा, तहां तहां है ज्ञान ।
जहां जहां है ज्ञान गुन, तहां तहां जिय मान ॥ ११६ ॥

तातें हीनाधिक नहीं, ज्ञान सुगुनतें जीव ।
हीनाधिकके मानतें, बाधा लगत सदीव ॥ ११७ ॥

कछु प्रदेशपै ज्ञान है, कछु प्रदेशपै नाहिं ।
यों मानत जड़ चेतना, दोनों सम है जाहिं ॥ ११८ ॥

तब किमि शुद्ध समाधिमें, निरविकल्प थिर होय ।
द्विधा दशा किमि अनुभवै, किहि विधि शिवसुख होय ॥ ११९ ॥

तातें दृष्टि प्रमानतें, बाधित है यह पच्छ ।
साधित है निरबाध ध्रुव, जीव ज्ञान यह स्वच्छ ॥ १२० ॥

(२६)

ज्ञान–आत्मा दोनों प्रकार सर्वगतपना ।

गीतिका ।

सर्वगत भगवानको, इस हेतुसों गुरु कहत हैं ।
तास ज्ञान प्रकाशमें, सब जगत दरसत रहत हैं ॥
गुन ज्ञानमय है रूप जिनका, ज्ञेय ज्ञानविषैं मथा ।
तासतें सर्वज्ञ सब व्यापक, जथारथ यों कथा ॥ १२१ ॥

षट्पद ।

शुचि दरपनमें जथा, प्रगट घट पट प्रतिभासत ।
मुकुर जात नहिं तहां, तौन नहिं मुकुर अवासत ॥
तथा शुद्ध परकाश, ज्ञान सब ज्ञेयमाहिं गत ।
ज्ञेय तहां थित करहिं, यह उपचार मानियत ॥
वह ज्ञान धरम है जीवको, धरमी धरम सु एक अत ।
या नयतें श्री सर्वज्ञको, कहैं जथारथ सर्वगत ॥ १२२ ॥

दोहा ।

एक ब्रह्म सब जगतमें, व्यापि रह्यौ सरवंग ।
अपनेही परदेशकरि, नानारंग उमंग ॥ १२३ ॥

ऐसी जिनके कुमतिकी, उपज रही है पच्छ ।
तिनको मत शतखंडकरि, दूषत हैं परतच्छ ॥ १२४ ॥

निज परदेशनिकरि जबै, जगमें व्यापौ आप ।
तब वह अमल समल भयौ, यह तो अमिल मिलाप ॥१२५॥

कछुक अमल कछुक समल है, तौ भी बनै न बात ।
एक वस्तुमें दो दशा, क्यों करि चित्त समात ॥ १२६ ॥

तातें ज्ञान प्रकाशमें, ज्ञेय सकल झलकंत ।
सो निजज्ञान सुभावमय, आप प्रगट भगवंत ॥ १२७ ॥

यातें श्रीसरवज्ञको, कह्यो सर्वगत नाम ।
अन्तरछेदी ज्ञानमय, जगव्यापक जगधाम ॥ १२८ ॥

यातें जो विपरीत मत, ते सब सकल असिद्ध ।
स्यादवादतें सर्वगत, श्रीअरहंत सु सिद्ध ॥ १२९ ॥

(२७)

एकत्व—अन्यत्व ?

मनहर ।

जोई ज्ञान गुन सोई आतमा बखाने जातें,
दोउमें कथंचित न भेद ठहरात है ।
आतमा बिना न और द्रव्यमाहिं ज्ञान लसै,
ज्ञान गुन जीवमें ही दीखे जहरात है ॥
तथा जसे ज्ञान गुन जीवमें विराजे तैसे,
और हू अनन्त गुन तामें गहरात है ।
गुनको समूह द्रव्य अपेक्षासों सिद्ध सत्व,
ऐसो स्यादवादको पताका फहरात है ॥ १३० ॥

द्रुमिला ।

गुण ज्ञानहिंको जदि जीव कहैं, तदि और अनन्त जिते गुन हैं ।
तिनको तब कौन अधार बने, निरधार बिना कहु को गुन है ? ॥
गुनमाहिं नहीं गुन और बसैं, श्रुति साश्वत श्रीजिनकी धुन है ।
तिसतै गुन पर्ज अनंतमयी, चिनमूरति द्रव्य सु आपुन है ॥ १३१ ॥

(२८)

ज्ञानमें परज्ञेयोंका प्रवेश नहीं है ।

षट्पद ।

ज्ञानी अपने ज्ञानभाव, ही माहिं विराजै ।
ज्ञेयरूप सब वस्तु, आपने छाज ॥
मिलिकर वरतें नाहिं, परस्पर ज्ञेयरु ज्ञानी ।
ऐसी ही मर्याद, वस्तुकी बनी प्रमानी ॥
जिमि रूपीदरवनि को प्रगट, देखत नयन प्रमानकर ।
तिमि तहां जथारथ जानिके, वृन्दावन परतीति धर ॥ १३२ ॥

(२९)

स्व-सामर्थ्यसे ही ज्ञाता-दृष्टा ।

मनहर ।

ज्ञानी ना प्रदेशतें प्रवेश करै ज्ञेयमाहिं,
तथा व्यवहारसे प्रवेश हू सो करै है ।
अच्छातीत ज्ञानतें समस्त वस्तु देखे जानें,
पाथरकी रेख ज्यों न संग परिहरै है ॥
जैसे नैन रूपक पदारथ विलोकै वृन्द,
तैसे शुद्ध ज्ञानसों अमल छटा भरै है ।
मानों सर्व ज्ञेयको उखारिके निगलि जात,
शक्त व्यक्त तासको विचित्र एसो धरै है ॥ १३३ ॥

(३०) ज्ञान-ज्ञेयका दृष्टान्त

जैसे इस लोकमें महान इन्द्रनील रत्न,
दूधमाहिं डारै तब ऐसो विरतंत है ।

आपनी आभासतें सफेदी भेद दूधकी सो,
नीलवर्न दूधको करत दरसंन है ॥
ताही भांति केवलीके ज्ञानकी शकति वृन्द,
ज्ञेयनको ज्ञानाकार करत लसंत है ।
निहचै निहारें दोऊ आपसमें न्यारे तौऊ,
व्याप्य अरु व्यापकको यही विरतंत है ॥ १३४ ॥

(३१)

उपरोक्त प्रकार पदार्थों कथंचित् ज्ञानमें ।

षट्पद ।

जो सब वस्तु न लसें, ज्ञान केवलमहँ आनी ।
तो तब कैसे होय, सर्वगत केवलज्ञानी ॥
जो श्रीकेवलज्ञान, सर्वगत पदवी पायो ।
तो किमि वस्तु न बसहिं, तहां सब यों दरसायो ॥
उपचार द्वारतें ज्ञान जिमि, ज्ञेयमाहिं प्रापति कही ।
ताही प्रकारतें ज्ञानमें, वस्तु वृन्द वासा लही ॥ १३५ ।

(३२)

सभीको जानता, फिर भी सबसे भिन्न ।

मनहरण ।

केवली जिनेश परवस्तुको न गहै तजै,
तथा पररूप न प्रनवै तिहूँ कालमें ।
जातें ताकी ज्ञानजोति जगी है अकंपरूप,
छायक स्वभावसुख वेवै सर्व हालमें ॥

सोई सर्व वस्तुको विलोकै जाने सरवंग,
रंच हू न बाकी रहे ज्ञानके उजालमें ।
आरसीकी इच्छा विना जैसे घटपटादिक,
होत प्रतिबिंबित त्यों ज्ञानी गुनमालमें ॥ १३६ ॥

दोहा ।

राग उदयतें संगरह, दोष भावतें त्याग ।
मोहउदय पर-परिनमन, ऐसे तीन विभाग ॥ १३७ ॥

गहन–तजन–परपरिनमन, इनहीतें नित होत ।
तास नाशकरिके भयो, केवल जोत उदोत ॥ १३८ ॥

जिनकी ज्ञानप्रभा अचल, यथा महामनि-जोत ।
प्रथमहिं जो सब लखि लियो, सो न अन्यथा होत ॥ १३९ ॥

जथा आरसी स्वच्छके, इच्छाको नहिं लेश ।
लसत तहाँ घटपट प्रगट, यही सुभाव विशेष ॥ १४० ।

तैसे श्रीसरवज्ञके, इच्छाको नहिं अंस ।
निरइच्छा जानत सकल, शुद्धचिदातम हंस ॥ १४१ ॥

ऐसे श्रीसर्वज्ञ हैं, ज्ञान भान अमलान ।
वृन्दावन तिनको नमत, सदा जोरि जुगपान ॥ १४२ ॥

(३३)

श्रुतज्ञानी–केवलज्ञानीमें कथंचित् समानता ।

मत्तगयन्द ।

जो भवि भावमई श्रुतितें, निज आतमरूप लखै सरवंगा ।
ज्ञायकभावमई वह आप, निजौ-परको पहिचानत चंगा ॥

सो श्रुतिकेवली नाम कहावत, जानत वस्तु जथावत अंगा ।
लोकप्रदीप रिषीगुरने, इहिभांति भनी भ्रमभानि प्रसंगा ।१४३॥

मनहरण ।

निरदोष गुनके निधान निरावर्नज्ञान,
ऐसे भगवान ताकी वानी सोई वेद है ।
ताके अनुसार जिन जान्यो निजआतमाको,
सहित विशेष अनुभवत अखेद है ॥
सोई श्रुतिकेवली कहावै जिन आगममें,
आपापर जाने भले भरम उछेद है ।
केवली प्रभूके परतच्छ इनके परोच्छ,
ज्ञायक शकतिमांहि इतनो ही भेद है ॥१४४॥

केवलीके आवरन नाशतें प्रतच्छ ज्ञान,
वेदै एक काल सुखसंपन अनंत है ।
इनके करम आवरनतें करम लियें,
जेतो ज्ञानपनो तेतो वेदै सुखसंत है ॥
कोऊ भानु उदै देख सकल पदारथको,
कोऊ दीखे दीपद्वार थोरी वस्तु तंत है ।
जानत जथारथ पदारथको दोऊ वृन्द,
प्रतच्छ परोच्छहीको भेद वरतंत है ।१४५॥

जैसे मेघावर्नतें वखाने भानुविभाभेद,
जोतिमें विभेद माने प्रगट लखेद है ।
एक ज्ञानधारामें नियारा पंचभेद तैसे,
जानत क्रियामें तहाँ भेदको निषेद है ॥

केवलीके आवरन नाशतें प्रतच्छ ज्ञान,
इनके परोच्छ श्रुतिद्वारतें सुवेद है ।
सांचे सरधानी दोऊ राचे रामरंगमाहिं,
कोऊ परतच्छ कोऊ परोच्छ अछेद है ॥ १४६ ॥

तोटक ।

इहि भांति जिनागममाहिं कही । श्रुतिकेवलि लच्छन दच्छ गही ॥
निज आतमको दरसै परसै । अनुभौ रसरंग तहां वरसें ॥ १४७ ॥

दोहा ।

शब्दब्रह्मकरि जिन लख्यो, ज्ञानब्रह्म निजरूप ।
ताहीको श्रुतिकेवली, भाषतु हैं जिनभूप ॥ १४८ ॥

(३४) श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है ।

मत्तगयन्द ।

श्री सरवज्ञहृदम्बुधितें, उपजी धुनि जो शुचि शारद गंगा ।
सो वह पुग्गलद्रव्यमई, भइ अंग उपंग अभंग तरंगा ॥
ताकहँ जो पहिचानत है, सोइ ज्ञान कहावत भावश्रुतंगा ।
सूत्रहुको गुरुज्ञान कहैं, सो विचार यहाँ उपचार प्रसंगा ॥१४९॥

(३५) ज्ञान और आत्माका एकत्व ।

षट्पद ।

जो जाने सो ज्ञान, जुदो कछु वस्तु न जानो ।
आतम आपहि ज्ञान, धर्मकरि ज्ञायक मानो ॥
ज्ञानरूप परिनवै, स्वयं यह आतमरामा ।
सकल वस्तु तसु बोधमाहिं, निवसैं करि धामा ॥

जद्यपि संज्ञा संख्यादितें, भेद प्रयोजनवश कहा ।
तद्यपि प्रदेशतें भेद नहिं, एक पिंड चेतन महा ॥१५०॥

मनहरण ।

जैसे घसिहारो घास काटै लोह दांतलेसों,
तहाँ करतार क्रिया साधन नियारा है ।
तैसे आतमाविषें न भेद है त्रिभेदरूप,
यहाँ तो प्रदेशतें अभेद निराधारा है ॥
संज्ञा संख्या लच्छन प्रयोजनतें वस्तुको,
अनन्तधर्मरूप सिद्ध साधन उचारा है ।
गुणी गुणमाहिं जो सरवथा विभेद मानें,
तहाँ तो प्रतच्छ दोष लागत अपारा है ॥ १५१ ॥

मत्तगयन्द ।

आतमको गुन ज्ञानतें भिन्न, बखानत हैं केई मूढ़ अभागे ।
दो विधि बात कहो तिनसों, वह ज्ञान विराजत है किहि जागे ॥
जो जड़में गुन ज्ञान बसै, तब तो जड़ चेतनता-पद पागे ।
जीवहिमें जो बसै गुन ज्ञान, तो क्यों तुम गाल बजावन लागे ॥१५२॥

मनहरण ।

जैसे आग दाहक-क्रियाको करतार ताको,
उष्णगुन दाहक-क्रियाको सिद्ध करै है ।
तैसे आतमाकी क्रिया ज्ञायकसुभाव तासु,
ज्ञानगुन साधन प्रधानता आचरै है ॥
विवहार दिष्टतें विशिष्ट है विभेद वृन्द,
निहचै सुदिष्टसों अभेद सुधा झरै है ।

आप चिन्मूरत अखंड द्रव्यदृष्टि ताके,
सत्ता गुन भेदतें अनंत धारा धरे है ॥ १५३ ॥

दोहा ।

निरविकल्प आतम दरव, द्रव्यदृष्टिके द्वार ।
जब गुन परज विचारिये, तब बहु भेद पसार ॥ १५४ ॥
जेते वचनविकल्प हैं, ते ते नयके भेद ।
सहित अपेच्छा सिद्ध सब, रहित अपेच्छ निषेद ॥ १५५ ॥
जहां सरवथा पच्छकरि, गहत वचनकी टेक ।
तहाँ होत मिथ्यात मत, सधत न वस्तु विवेक ॥ १५६ ॥
तातें दोनों नयनिको, दोनों नयनसमान ।
जथाथान सरधानकरि, वृन्दावन सुख मान ॥ १५७ ॥
जहां अपेच्छा जासुकी, तहां ताहि करि मुख्य ।
करो सत्य सरधान दिढ़, स्यादवाद रस चुख्य ॥ १५८ ॥
है सामान्य विशेषमय, वस्तु सकल तिहि काल ।
सो इकंतसों सधत नहिं, दूषन लगत विशाल ॥ १५९ ॥
तातें यह चिद्रूपको, प्रनवन है गुन ज्ञान ।
ज्ञानरूप वह आप है, चिदानंद भगवान ॥ १६० ॥

(३६) ज्ञान-ज्ञेयका वर्णन ।

षट्पद ।

पूरवकथित प्रमान, जीव ही ज्ञान सिद्ध हुव ।
ज्ञेय द्रव्य कहि त्रिविधि, विविध विधि भेद तासु ध्रुव ॥
चिदानंदमें द्रव्य, ज्ञेय दोनों पद सोहै ।
अन्य पंच जड़वर्ग, ज्ञेय पदवी तिनको है ॥

यह आतम जानत सुपरको, ज्ञान वृन्द परकाश धर ।
परिनामरूप सनबंध है, ज्ञाता ज्ञेय अनादिकर ॥ १६१ ॥
जदपि होय नट निपुन, तदपि निजकंध चढ़ै किमि ।
तिमि चिनमूरति ज्ञेय, लखहु नहिं लखत आप इमि ॥
यों संशय जो करै, तासुको उत्तर दीजे ।
सुपर प्रकाशकशक्ति, जीवमें सहज लखीजे ॥
जिमि दीप प्रकाशत सुघटपट, तथा आप दुति जगमगत ।
तिमि चिदानंद गुन वृन्दमें, स्वपरप्रकाशक पद पगत ॥ १६२ ॥

चौपाई ।

ज्ञेय त्रिधातमको यह अर्थ । भाषा श्रीगुरुदेव समर्थ ॥
भूत अनागत वरतत जेह । परजय भेद अनंते तेह ॥ १६३ ॥
अथवा उतपतिव्ययध्रुवरूप । तथा द्रव्यगुनपरज प्ररूप ॥
सुपर ज्ञेयके जे ते भेद । सो सब जानत ज्ञान अखेद ॥ १६४ ॥
ज्ञानरूप अरु ज्ञेयस्वरूप । द्रव्यरूप यह है चिद्रूप ॥
और पंच जड़वर्जित ज्ञान । सदा ज्ञेयपद धरै निदान ॥ १६५ ॥
आतमज्ञान जोतिमय स्वच्छ । स्वपर ज्ञेय तहँ लसत प्रतच्छ ॥
वंदो कुन्दकुन्द मुनिराय । जिन यह सुगम सुमग दरसाय ॥ १६६ ॥

(३७) द्रव्योंकी भूत-भावी पर्यायें भी वर्तमानवत् और ज्ञानमें पृथक्-पृथक् ज्ञात होती हैं ।

मनहरण ।

जेते परजाय षट्द्रव्यनके होय गये,
अथवा भविष्यत जे सत्तामें विराजैं हैं ।
ते ते सब भिन्न भिन्न सकल विशेषजुत,
शुद्ध ज्ञान भूमिकामें ऐसे छवि छाजैं हैं ॥

जैसे ततकाल वर्त्तमानको विलोकै ज्ञान,
तैसे भगवान अविलोकैं महाराजैं हैं ।
भूतभावी वस्तु चित्रपटमें निहारैं जैसे,
गहै ज्ञान ताको तैसे तहां भ्रम भाजैं हैं ॥१६७।

दोहा ।

वर्तमानके ज्ञेयको, जो जानत है ज्ञान ।
तामें तो शंका नहीं, देखत प्रगट प्रमान ॥१६८॥

भूत भविष्यत पर्ज तो, है ही नाहीं मित्त !
तब ताको कैसे लखै, यह भ्रम उपजत चित्त ॥१६९॥

बाल अवस्थाकी कथा, जब उर करिये याद ।
तब प्रतच्छवत होत सब, यामें नाहिं विवाद ॥१७०॥

अथवा भावी वस्तु जे, वेदविदित सब ठौर ।
तिनहिं विचारत ज्ञान तहँ, होत तदाकृति दौर ॥१७१॥

बाहूबलि भरतादि जे, ऽतीत पुरुष परधान ।
अथवा श्रेणिक आदि जे, होनहार भगवान ॥१७२॥

तिनको चित्र विलोकतैं, ऐसो उपजत ज्ञान ।
जैसे ज्ञेय प्रतच्छको, जानत ज्ञान महान । १७३ ।

छद्मस्थनिके ज्ञानकी, जहँ ऐसी गति होय ।
जानहिं भूत भविष्यको, वर्तमानवत सोय ॥१७४॥

तब जिनके आवरनको, भयौ सरवथा नाश ।
प्रगट्यो ज्ञान अनंतगत, सहज शुद्ध परकाश ॥१७५॥

तिनके भूत भविष्य जे, परजै भेद अनंत ।
छहों दरवके लखनमें, शंका कहा रहंत ॥१७६॥

यह सुभाव है ज्ञानको, जब प्रनवत निजरूप ।
तब जानत जुगपत जगत, त्रिविधि त्रिकालिकभूप ॥ १७७ ।

ऐसे परम प्रकाशमहँ, शुद्ध बुद्ध जिमि अर्क ।
तास प्रगट जानन विषैं, कैसे उपजै तर्क ॥ १७८ ॥

अपने वस्तुस्वभावमें, राजै वस्तु समस्त ।
निज सुभावमें तर्क नहिं, यह मन सकल प्रशस्त ॥ १७९ ॥

(३८) अविद्यमान पर्यायोंका भी कथंचित् विद्यमानत्व ।

दोहा ।

जे परजे उपजे नहीं, होय गये पुनि जेह ।
असद्भूत है नाम तसु, यों भगवान भनेह ॥ १८० ॥

ते सब केवलज्ञानमें, हैं प्रतच्छ गुनमाल ।
ज्यों चौवीसी थंभमें, लिखी त्रिकालिक हाल ॥ १८१ ॥

(३९) उनके भी ज्ञान प्रत्यक्षत्व ।

द्रुमिला ।

जिस ज्ञानविषैं परतच्छ समान, भविष्यत भूत नहीं झलकै ।
परजाय छहों विधि द्रव्यनके, निहचै करके सब ही थलकै ॥
तिस ज्ञानकों कौन प्रधान कहै, भवि वृन्द विचार करो भलकै ।
वह तो नहिं पूज पदस्थ लहै, न त्रिकालिकज्ञेय जहाँ ललकै ।

(४०) इन्द्रियज्ञानकी तुच्छता ।

काव्य (मात्रा २६)

जो इन्द्रिनसों भये आप सनबन्ध पदारथ ।
तिनको ईहादिकन सहित, जो जानत सारथ ॥

सो जन वस्तु परोच्छ तथा, सूच्छिम नहिं जाने ।
मतिज्ञानीकी यही शकति, जिनदेव बखाने ॥ १८३ ॥

मनहरण ।

इन्द्रिनके विषय जे विराजत हैं थूलरूप,
तिनसों मिलाप जब होय तब जाने हैं ।
अवग्रह ईहा औ अवाय धारणादि लिये,
क्रमसों विकलपकरि ठीकता सो माने हैं ॥
भूतभावी परजै प्रमान औ अरूपी वस्तु,
इन्द्रिनतें सर्व ये अगोचर प्रमाने हैं ।
जातें इन गच्छिनिको अच्छतें न ज्ञान होत,
ताहीसेती अच्छज्ञान तुच्छ ठहराने है ॥ १८४ ॥

(४१) अतीन्द्रिय ज्ञानकी महानता ।

अप्रदेशी कालानु प्रदेशी पंच अस्तिकाय,
मूरतीक पुग्गल अमूरतीक पांच है ।
तिनके अनागत अतीत परजाय भेद,
नाना भेद लिये निज निज थल माच है ॥
सर्वको प्रतच्छ एक समैहीमें जाने स्वच्छ,
अतीन्द्रियज्ञान सोई महिमा अवाच है ।
वारवार वंदत पदारविंदताको वृन्द,
जाको पद जानैतें न नाचै कर्मनाच है ॥ १८५ ॥

सवैया छन्द ।

इन्द्रियजनित ज्ञानहीतें जे, मतवाले माने सरवज्ञ ।
सो तौ प्रगट विरोध बात है, पच्छ छांड़ि परखौ किन तज्ञ ॥

सूक्ष्मान्तरित दूरके द्रव्यनि, सों न प्रतच्छ लखै अलपज्ञ ।
यातें निरावरन निरदूषित, छायक ही ज्ञानी सारज्ञ ॥ १८६ ।

(४२) उस ज्ञानमें ज्ञेयार्थ परिणमन लक्षण क्रिया नहीं है ।

षट्पद ।

जो ज्ञाता परिनवै, ज्ञेयमें विकलप धारै ।
तिहिको छायकज्ञान, नाहिं यों जिन उच्चारै ॥
वह विकलपजुत वस्तु, वृन्द अनुभव न करै है ।
मृगतृष्णा इव फिरत, नाहिं संतोष धरै है ॥
तातैं विकलपजुतज्ञानको, नहिं छायकपदवी परम ।
यह पराधीन इन्द्रियजनित, वह सुबोध आतमधरम ॥ १८७ ॥

(४३) संसारीके दोष वहाँ नहीं हैं ।

द्रुमिला ।

भगवन्त भनी जगजंतुनिको, जब कर्मउदै इत आवत है ।
तब राग विरोध विमोहि दशा करि, नूतन बंध बढ़ावत है ।
दिढ़ आतम जोति जगै जिनको, तिनको रस दै खिर जावत है ।
नहिं नूतन बंध बंधै तिनको, इमि श्रीगुरु वृन्द बतावत है ॥१८८॥

(४४) केवली भगवान अबंध ही हैं ।

मनहरण ।

तिन अरहंतनिके इच्छाविना क्रिया होत,
कायजोग बैठन उठन डग भरनो ।
दिव्यध्वनि धारासों दुधारा धर्म भेद भनै,
ताहीके अधारा भवपारावार तरनो ॥

मायाचार नारिनिमें नारिवेद–उदै जैसे ।
केवलीके तैसे औदयिकक्रिया वरनो ॥
देखो ! मेघमाला नाद करत रसाला उठि ।
चलत विशाला तैसे तहाँ उर धरनो ॥ १८९ ॥

दोहा ।

प्रश्नः—पूछत शिष्य विनीत इत, विन इच्छा भगवान ।
दिच्छा शिच्छा देत किमि, उठत चलत थितिठान ॥ १९० ॥

उत्तरः—सुविहायोगत कर्म है, चलन–फिरनको हेत ।
सोई निज रस दै खिरत, उठत चलत थिति लेत ॥ १९१ ॥

बिन इच्छा जिमि चलत है, मेघ पवनके जोग ।
आरज श्रीअरहंत तिमि, विहरहिं कर्म-नियोग ॥ १९२ ॥

भाषा-प्रकृति उदोत लगु, वानी खिरत त्रिकाल ।
स्वतः अनिच्छा रूपतैं, तहाँ अलौकिक चाल ॥ १९३ ॥

रसन दशन हालैं न कछु, लगत न ओठ लगार ।
विकृति होत नहि अंगको, महिमा अपरंपार ॥ १९४ ॥

अष्ट स्थानकतैं [1]वरन, उपजत संजुतशोर ।
जिनध्वनि वर्जित तासतैं, जथा मेघ घनघोर ॥ १९५ ॥

सो जब तहाँ पुनीत जन, पूछहिं सन्मुख आय ।
दिव्यध्वनि तब खिरत है, निमित तासुको पाय ॥ १९६ ॥

निमित और नैमितकको, बन्यो बनाव अनाद ।
सब मत मानत बात यह, यामें नाहिं विवाद ॥ १९७ ॥

---

१. वर्ण अक्षर ।

चिंतामनि अरु कल्पतरु, ये जड़ प्रगट कहांहिं ।
मनवांछित संकल्प किमि, सिद्धि करहिं पलमांहिं ॥ १९८ ॥

पारस निज गुन देत नहिं, नहिं परऔगुन लेत ।
किमि ताको परसत तुरत, लोह कनकछवि देत ॥ १९९ ॥

इच्छारहित अनच्छरी, ऐसे जिनधुनि होय ।
उठन चलन थितिकरनमें, यहां न संशय कोय ॥ २०० ॥

(४५) कर्म विपाकका अकिंचित्करत्व

मनहरण ।

पुण्यहीको फल है शरीर अरहंतनिको,
फेरि तिन्हैं सोई कर्म उदै जब आवै है ।
तबै काय वैन जोग क्रियाको उदोत होत,
जथा मेघ बोलै डोलै वारि बरसावै है ॥
जातैं मोह आदिको सरवथा अभाव तहाँ,
तातैं वह क्रिया वृन्द छायकी कहावै है ।
पूर्वबंध खिरो जात नूतन न बँधे पात,
छायकीको ऐसोई सुभेद वेद गावै है ॥ २०१ ॥

चौपाई ।

चार भांति करि बंध विभागा । प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागा ।
जोगद्वारतैं प्रकृति प्रदेशा । थिति अनुभाग मोहकृत भेषा ॥
जहां मूलतैं मोह विनाशै । तहँ किमि थिति अनुभाग प्रकाशै ।
पूरवबंध उदै जो आवै । सो निज रस दैके खिरि जावै ॥ २०२ ॥

दोहा ।

भानु वसत आकाशमें, जलमें जलज वसंत ।
किमि ताको अवलोकते, विकसित होत तुरन्त ॥ २०४ ॥

अस्त गभस्त विलोकते, चकवा तिय तजि देत ।
लखहु निमित नैमतिकको, प्रगट अनाहत हेत ॥ २०५ ॥

तैसे पुण्यनिधानके, प्रश्न होत परमान ।
जिनधुनि खिरत अनच्छरी, इच्छारहित महान ॥ २०६ ॥

जैसे शयन दशाविर्षे कोउ करि उठत प्रलाप ।
विनु इच्छा तसु वचन तहँ खिरत आपतैं आप ॥ २०७ ॥

जब इच्छाजुतको वचन, खिरत अनिच्छा येम ।
तब सो वचनखिरन विषैं, इच्छाको नहिं नेम ॥ २०८ ॥

चिंतामनि सुरवृच्छतैं, गुनित अनंतानंत ।
शक्ति सुखद जिनदेहमें, सहज सुभाव लसंत ॥ २०९ ॥

जैसी जिनकी भावना, तैसी तिनकों दीस ।
धुनि धारासों विस्तरत, इन्द्र धरत सत शीस ॥ २१० ॥

अब जिहि विधि वरनातमक, होत सुधारण धार ।
ताको सुनि शरधा करो, ज्यों पावो भवपार ॥ २११ ॥

श्रीगनधर वर रिद्धिधर, सुनहिं सुधुनि अमलान ।
तिनहूकी मतिमें सकल, बानी नाहिं समान ॥ २१२ ॥

जेतो मतिभाजन तितो, [1]वयन गही गनईश ।
वीस अंक परमान श्रुति रची ताहि जुतशीस ॥ २१३ ॥

ताहीके अनुसार पुनि, और सुगुरु निरग्रंथ ।
रचना जिनसिद्धांतकी, रचहिं सुखद शिवपंथ ॥ २१४ ॥

---
१. वचन ।

चौपाई ।

आतमराम शुद्ध उपयोगी। अमल अतिंद्री आनंदभोगी ।
तिनकी क्रिया छायकी वरनी। 'वृन्दावन' वन्दत भवतरनी ॥ २१५ ॥

(४६) संसारी और केवलीमें असमानत्व

माधवी ।

जदि आतम आप सुभावहितैं, स्वयमेव शुभाशुभरूप न होई ।
तदि तौ न चहै सब जीवनिके, जगजाल दशा चहिये नहिं कोई ॥
तब बंध नहीं तब भोग कहां, जो बँधै सोई भोगवै भोग तितोई ।
यह पच्छ प्रतच्छ प्रमानतैं साधते, खंडन सांख्यमतीनिकी होई ।२१६॥

छन्द सवैया (सांख्यमतीका लक्षण) ।

सांख्य कहै संसारविषैं थित, जीव शुभाशुभ करै न भाव ।
प्रकृति करै करमनिको ताकौ, फल भुगतै चिन्मूरति-राव ॥
तहां विरोध प्रगट प्रतिभासत, विना किये कैसे फल पाव ।
जातैं जो करता सो भुक्ता, यही राजमारगको न्याव ॥ २१७ ॥

(४७) सर्वज्ञपनेसे अतीन्द्रियज्ञानकी महिमा

अशोक पुष्प मंजरी ।

वर्तमानके गुनौ समस्त पर्ज वा,
भविष्य भूतकालके जिते अनंतनंत हैं ।
सब्ब दव्वके सवंग जे विचित्रता तरंग,
अंतरंग चिन्ह भिन्न भिन्न सो दिपंत हैं ॥
एक ही समै सु एक वार ही लख्यौ तिन्हैं,
प्रतच्छ अंतंग छेद स्वच्छता धरंत हैं ।

छायकीय ज्ञान है यही त्रिलोकवंद वृन्द,
जो समौ विषम्यमें समान भासवंत है ॥ २१८ ॥

(समविषमकथन)-मनहरण ।

कोऊ द्रव्य काहूके समान न विराजत है,
याहीतैं विषम सो वखानै गुरु ग्रंथमें ।
मति श्रुति [1]औध मनपर्जके विषय तेऊ,
विषम कहावत छयोपशम पंथमें ॥
सर्व कर्म सर्वथा विनाशिके प्रतच्छ स्वच्छ,
छायक ही ज्ञान सिद्ध भयौ श्रुति मंथमें ।
सोई सर्व दर्वको विलोकै एकै समैमाहिं,
महिमा न जासकी समात [2]ग्रंथकंथमें ।२१९ ॥

(४८)

जो सभीको नहीं जानता वह एकको भी नहिं जानता ।

मनहरण ।

तीनोंलोकमाहिं जे पदारथ विराजैं तिहूं,
कालके अनंतानंत जासुमें विभेद है ।
तिनको प्रतच्छ एक समैहीमें एकै वार,
जो न जानि सकै स्वच्छ अंतर उछेद है ॥
सो न एक दर्वहूको सर्व परजायजुत,
जानिवेकी शक्ति धरै ऐसे भने वेद है ।
तातैं ज्ञान छायककी शक्ति व्यक्त वृन्दावन,
सोई लखै आप-पर सर्वभेद छेद है ॥ २२० ॥

---

१. अवधिज्ञान । २. ग्रंथरूपी कथामें-वस्त्रमें ।

(४९)

एकको नहीं जानता वह सभीको भी नहीं जान सकता।

मत्तगयन्द ।

जो यह एक चिदातम द्रव्य, अनन्त धरै गुनपर्यय सारो।
ताकहँ जो नहिं जानतु है, परतच्छपने सरवंग सुधारो॥
सो तब क्यों करिके सब द्रव्य, अनंत अनंत दशाजुत न्यारो।
एकहि कालमें जानि सकै यह, ज्ञानकी रीतिको क्यों न विचारो॥२२१॥

मनहरण ।

घातिकर्म घातकै प्रगट्यो ज्ञान छायक सो,
दर्वदिष्टि देखते अभेद सरवंग है।
ज्ञेयनिके जानिवेतैं सोई है अनंत रूप,
ऐसे एक औ अनेक ज्ञानकी तरंग है॥
तातैं एक आतमाके जानेहीतैं वृन्दावन,
सर्व दर्व जाने जात ऐसोई प्रसंग है।
केवलीके ज्ञानकी अपेच्छातैं कथन यह,
मथन करी है कुन्दकुन्दजी अभंग है॥२२२॥

(५०) क्रमिक ज्ञानमें सर्वज्ञताका अभाव

अरिल्ल ।

जो ज्ञाताको ज्ञान अनुक्रमको गही,
वस्तुनिको अवलंबत उपजत है सही।
सो नहिं नित्य न छायक नहिं सरवज्ञ है,
पराधीन तसु ज्ञान सो जन अलपज्ञ है॥२२३॥

(५१) सर्वज्ञ ज्ञानकी महिमा

मनहरण ।

तिहूँकालमाहिं नित विषम पदारथ जे,
सर्व सर्वलोकमें विराजैं नाना रूप है ।
एकै बार जानै फेरि छांडैं नाहिं संग ताको,
[१]संगकी सी रेखा तथा सदा संगभूप है ॥
अमल अचल अविनाशी ज्ञानपरकाश,
सहज सुभाविक सुधारसको कूप है ।
श्री जिनिंददेवजूके ज्ञान गुन छायककी,
अहो भविवृन्द यह महिमा अनूप है ॥ २२४ ॥

कोऊ मूरतीक कोऊ मूरतिरहित द्रव्य,
काहुके न काय कोऊ द्रव्य कायवंत है ।
कोऊ जड़रूप कोऊ चिदानंदरूप यातैं,
सर्व दर्व सम नाहिं विषम अनंत है ॥
तिनके त्रिकालके अनंत गुनपरजाय,
नित्यानित्यरूप जे विचित्रता धरंत है ।
सर्वको प्रतच्छ एक समैमें ही जानै ऐसे
ज्ञानगुन छायककी महिमा अनंत है ॥ २२५ ॥

(५२)

सर्वज्ञतारूप ज्ञप्तिक्रिया होने पर भी बन्धनका अभाव

मनहरण ।

शुद्ध ज्ञानरूप सरवंग जिनभूप आप,
सहज-सुभाव-सुखसिंधुमें मगन है ॥

---

१. पत्थरकी रेखा ।

तिन्हैं परवस्तुके न जानिवेकी इच्छा होत,
जातैं तहाँ मोहादि विभावकी भगन है।
तातैं पररूप न प्रनवै न गहन करै,
पराधीन ज्ञानकी न कबहूँ जगन है॥
ताहीतैं अबंध वह ज्ञानक्रिया सदाकाल,
आतमप्रकाशहीमें जासकी लगन है॥२२६॥

दोहा।

क्रिया दोइ विधि बरनई, प्रथम प्रज्ञप्ती जानि।
ज्ञेयारथ परिवरतनी, दूजी क्रिया बखानि॥२२७॥
अमलज्ञानदरपन विषैं, ज्ञेय सकल झलकंत।
प्रज्ञप्ती है नाम तसु, तहां न बंध लसंत॥२२८॥
ज्ञेयारथ परिवरतनी, रागादिकजुत होत।
जैसो भावविकार तहँ, तैसो बंधउदोत॥२२९॥

पद्धतिका-पद्धड़ी। (अधिकारान्त मंगल)

ज्ञानाधिकार यह मुकतिपंथ। गुरु कथी सारश्रुतिसिंधु मंथ।
मुनि कुंदकुंदके जुगल पांय। वृन्दावन वन्दत शीस नाय।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्रीप्रवचनसारजीकी
वृन्दावनकृत भाषामें प्रथम ज्ञानाधिकार पूरा भया[1]।

---

१. (क प्रतिमें) "मिती कार्तिक कृष्णा १४ चौदश संवत् १९०५ बुधवारे (ख प्रतिमें) संवत् १९०६ चैत्र शुक्ला पूर्णमास्याम् मन्दवासरे।" इस प्रकार लिखा है।

अथ द्वितीयसुखाधिकारः प्रारभ्यते ।

मंगलाचरण ।

चरनकमल कमला वसत, सारद सुमुखनिवास ।
देवदेव सो देव मो, कमला वागविलास ॥ १ ॥
श्रीसरवज्ञ प्रनाम करि, कुन्दकुन्द मुनि वंदि ।
वरनों सुखअविकार अब, भवि उर-भरम निकंदि ॥ २ ॥

(१) गाथा–५३ कौनसा ज्ञान, सुख और हेय–उपादेय है ?

मनहरण ।

[1]अर्थनिकेमाहिं जो अतीन्द्रीज्ञान राजत है,
सोई तो अमूरतीक अचल अमल है ।
बहुरि जो इन्द्रिय जनित ज्ञान उपजत,
सोई मूरतीक नाम पावत समल है ॥
ताही भांति सुखहू अतीन्द्री है अमूरतीक,
इन्द्रीसुखमूरतीक सोऊ न विमल है ।
दोऊमें परम उतकृष्ट होय गहो ताहि,
सोई ज्ञान सुख शिवरमाको कमल है ॥ ३ ॥

अतीन्द्रियज्ञान सुख आतमसुभाविक है,
एक रस सासतो अखण्ड धार वहै है ।
शत्रुको विनाशिके उपज्यो है अवाधरूप,
सर्वथा निजातमीक-धर्मको गहै है ॥

१. पदार्थोमें ।

इन्द्रीज्ञानसुख परावीन है विनायिक है,
तातैं याको हेय जानि ऐसो गुरु कहै है।
ज्ञानसुखपिंड चिनमूरति है वृन्दावन,
धर्ममैं अनंत धर्म जुदे-जुदे रहे है ॥ ४ ॥

(२) गाथा–५४ अतीन्द्रिय सुखके कारणरूप अतीन्द्रिय ज्ञानकी उपादेयता और प्रशंसा ।

जाकी ज्ञानप्रभामें अमूरतीक सर्व दर्व,
तथा जे अतीन्द्रीगम्य अनू पुद्गलके ।
तथा जे प्रछन्न द्रव्य क्षेत्र काल भाव चार,
सहितविशेष वृन्द निज निज थलके ॥
और निज आतमके सकल विभेद भाव,
तथा परद्रव्यनिके जेते भेद ललके ।
ताही ज्ञानवंतको प्रतच्छ स्वच्छ ज्ञान जानो,
जामें ये समस्त एक समैहीमें झलके ॥ ५ ॥

(३) गाथा–५५ इन्द्रियसुखका कारणरूप ज्ञान हेय है–निंद्य है ।

जीव है सुभावहीतैं स्वयंसिद्ध अमूरत,
द्रव्य द्वार देखते न यामें कछु फेर है ;
सोई फेर निश्चैसों अनादि कर्मबंध जोग,
मूरतीक दीखै जैसो देहको गहे रहै ॥
ताही मूरतीकतैं सुजोग मूर्त पदारथ,
तिनको अवग्रहादिकतैं जानते रहै ॥

अथवा छयोपशममन्दता भयेतैं सोई,
थूल मूरतीक हू न जानत किते रहै ॥ ६ ॥

दोहा ।

देह धरेतैं आतमा, द्रव्येंद्रिनिके द्वार ।
निकट थूल मूरत दरव; तिनको जाननिहार ॥ ७ ॥

अथवा छय उपशम घटैं, निपट निकट जे वस्त ।
तिनहुँ न जानि सकै कभी, यह जगविदित समस्त ॥ ८ ॥

पंचिन्द्रिनिके विषयको, जानि अनुभवै सोय ।
इन्द्रियसुख सो जानियो, मूरतीकमें होय ॥ ९ ॥

यातैं ज्ञानौ सुख दोऊ, वसहिं सदा इक संग ।
मूरतिमाहिं मूरतिक, इतरमाहिं तदरंग ॥ १० ॥

फरस रूप रस गंध अरु, श्रवनिंद्रिनिके भोग ।
ज्ञानद्वारतैं जानिके, सुख अनुभव तपयोग ॥ ११ ॥

यातैं ज्ञानरु सौख्यको, अविनाभावी संग ।
चिद्विलासहीमें बसत, उपजहि संग उमंग ॥ १२ ॥

इन्द्रियज्ञानरु सौख्य जिमि, मूरतीकमें जान ।
तथा अतिन्द्रियज्ञान सुख, वसत अतिंद्रियथान ॥ १३ ॥

कहा कहों नहिं कहि सकों, वचनगम्य नहिं येह ।
अनुभव नयन उघारि घट, वृन्दावन लखि लेह ॥ १४ ॥

(जीवदशा) मनहरण ।

अनादितैं महामोह मदिराको पान किये,
ठौर ठौर करत उराहनेको काम है ।
अज्ञान अँधारमैं सँभारै न शकति निज,
इन्द्रिनिके लारे किये देहहीमैं धाम है ॥
लपटि झपटि गहै मूरतीक भोगनिको,
शुद्धज्ञान दशा सेती भई बुद्धि वाम है ।
ऐसी मूरतीक ज्ञान परोच्छकी लीला वृन्द,
भाषी कुन्दकुन्द गुरु तिनको प्रनाम है ॥ १५ ॥

(४) गाथा—५६ इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयोंमें भी एक साथ अपना काम नहिं कर सकतीं अतः वह हेय ही हैं।

षट्पद ।

फरस रूप रस गंध, शब्द ये पुग्गलीक हैं ।
पंचेन्द्रिनिके जथाजोग ये, भोग ठीक हैं ॥
सब इन्द्री निजभोगन, जुगपत गहन करै हैं ।
छय उपशम क्रमसहित, भोग अनुभवत रहै हैं ॥
ज्यों काक लखत दो नयनतैं, एक पूतली फिरनिकर ।
जुगपत नव भेदि सलखि सकत, त्यों इन्द्रिनिकी रीति तर ॥ १६ ।
जीव जीभके स्वादमाहिं, जिहिकाल पगै है ।
अन्येंद्रिनिके भोगमैं न, तब भाव लगै है ॥
निज निज रस सब गहैं, जदपि यह सकति अच्छमहँ ।
तदपि न एकै काल, सकल रस अनुभवते तहँ ॥

रस वेदहिं क्रमहीसों सभी, छ्य उपशमकी सकति यहि ।
जातैं परोच्छ यह ज्ञान है, पराधीन मूरति सु गहि ॥ १७ ॥

दोहा ।

यह परोच्छ ही ज्ञानतैं, इन्द्रिनिको रस जान ।
चिदानंद सुख अनुभवहि, जेतो ज्ञान प्रमान ॥ १८ ॥
तातैं ज्ञानरु सुख दोऊ, हैं परोच्छ परतंत ।
मूरतीक वाधा सहित, यातैं हेय भनंत ॥ १९ ॥

(५) गाथा–५७ इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है ।

छन्द सवैया ।

जे परदरवमई हैं इन्द्री, ते पुद्गलके वने वनाव ।
चिदानंद चिद्रूप भूपको, यामैं नाहीं कहूं सुभाव ॥
तिन करि जो जानत है आतम, सो किमि होय प्रतच्छ लखाव ।
पराधीन तातैं परोच्छ यह, इन्द्रीजनित ज्ञान ठहराव ॥ २० ॥

मत्तगयन्द ।

पुद्गलदर्वमई सव इन्द्रिय, तासु सुभाव सदा जड़ जानो ।
आतमको तिहुंकाल विषैं, नित चेतनवंत सुभाव प्रमानो ॥
तौ यह इन्द्रियज्ञान कहो, किहि भांति प्रतच्छ कहाँ ठहरानो ।
तातैं परोच्छ तथा परतंत्र, सु इन्द्रियज्ञान भनौ भगवानो ॥ २१ ॥

(६) गाथा–५८ परोक्ष-प्रत्यक्षके लक्षण ।

मनहरण ।

परके सहायतैं जो वस्तुमें उपजै ज्ञान,
सोई है परोच्छ तासु भेद सुनो कानतैं ।
जथा उपदेश वा छयोपशम लाभ तथा,
पूर्वके अभ्यास वा प्रकाशादिक भानतैं ॥

और जो अकेले निज ज्ञानहीतैं जानैं जीव,
सोइ है प्रतच्छ ज्ञान साधित प्रमानतैं ।
जातैं यह परकी सहाय विन होत वृन्द,
अतिंद्रिय आनंदको कंद अमलानतैं ॥ २२ ॥

(७) गाथा—५९ अब प्रत्यक्षज्ञानको पारमार्थिक सुख दिखाते हैं ।

मनहरण ।

ऐसो ज्ञानहीको 'सुख' नाम जिनराज कह्यो,
जौन ज्ञान आपने सुभावहीसों जगा है ।
निरावर्नताई सरवंग जामें आई औ जु,
अनंते पदारथमें फैलि जगमगा है ॥
विमल सरूप है अभंग सरवंग जाको,
जामें अवग्रहादि क्रियाको क्रम भगा है ।
सोई है प्रतच्छ ज्ञान अतिंद्री अनाकुलित,
याहीतैं अतिंद्रियसुख याको नाम पगा है ॥ २३ ॥

(८) गाथा—६० अब केवलज्ञानको भी परिणामके द्वारा दुःख होगा ? समाधान—

मत्तगयन्द ।

केवलनाम जो ज्ञान कहावत, है सुखरूप निराकुल सोई ।
ज्ञायकरूप वही परिनाम, न खेद कहूं तिन्हिके मधि होई ॥
खेदको कारण घातिय कर्म, सो मूलतैं नाश भयो मल धोई ।
यातैं अतिन्द्रिय ज्ञान सोई, सुख है निहचै नहिं संशय कोई ॥ २४ ॥

मनहरण ।

घातिया करम यही ज्ञानमाहिं खेद करै
जातैं मोहउदै मतवालो होत आतमा ।
झूठी वस्तुमाहिं बुद्धि सांची करि धावतु है,
खेदजुत इन्द्री विषै जानै बहु भांतमा ॥
जाके घाति कर्मको सरवथा विनाश भयो,
जग्यो ज्ञान केवल अनाकुल विख्यातमा ।
त्रिकालके ज्ञेय एकै बार चित्रभीतवत,
जानै जोई ज्ञान सोई सुख है अध्यातमा ॥ २५ ॥

(९) गाथा–६१ केवलज्ञान सुख स्वरूप है।

मत्तगयन्द ।

केवलज्ञान अनन्तप्रभातैं, पदारथके सब पार गया है ।
लोक अलोकविषैं जसु दिष्टि, विशिष्टपनें विसतार लया है ॥
सर्व अनिष्ट विनष्ट भये, औ जु इष्ट सुभाव सो लाभ लया है ।
यातैं अभेद दशा करिकै यह, ज्ञानहिको सुख सिद्ध ठया है ॥ २६ ॥

दोहा ।

जब ही घाति विघातिके, शुद्ध होय सरवंग ।
ज्ञानादिक गुन जीवके, सोई सौख्य अभंग ॥ २७ ॥
निजाधीन जानै लखै, सकल पदारथ वृन्द ।
खेद न तामैं होत कछु, केवलजोति सुछन्द ॥ २८ ॥
तातैं याही ज्ञानको, सुखकरि बरनन कीन ।
भेदविविच्छा छांड़िके, कुन्दकुन्द परवीन ॥ २९ ॥

(१०) गाथा–६२ केवलियोंके ही पारमार्थिक सुख है।

माधवी।

जिनको यह घातियकर्म विघातिकै, केवल जोति अनन्त फुरी है।
सुखमें उतकिष्ट अतीन्द्रिय सौख्य, तिन्हैं सरवंग असंग पुरी है॥
तिसको न अभव्य प्रतीति करैं, पुनि दूर हु भव्यकी बुद्धि दुरी है।
यह बात वही सरधा धरि हैं, जिनके भवकी थिति आनि जुरी है। ३०॥

दोहा।

इन्द्रीसुखजुत मुक्ति जे, जानहिं मूढ़ अयान।
तिनको मत खण्डन करि, श्रीगुरु हनी निदान॥ ३१॥

(११) गाथा–६३ अपारमार्थिक इन्द्रियसुख।

माधवी।

नर इन्द्र सुरासुर इन्द्रनिको, सहजै जब इन्द्रियरोग सतावै।
तब पीड़ित होकर [1]भोगनको, नित सेवत [2]मनोगनमाहिं रमावै॥
तहाँ चाहकी दाह नवीन बढ़ै, घृतआहुतिसैं जिमि आगि जगावै।
सहजानंद बोध विलास विना, नहिं ओसके बूंदसों प्यास बुझावै॥

दोहा।

स्वर्गविषैं इन्द्रादिको इन्द्रियसुख भरपूर।
सोउ खेद बाधासहित, सहजानँदतैं दूर॥ ३२॥
तातैं इन्द्रीजनित सुख [3]हेयरूप पहिचान।
ज्ञानानन्द अनच्छसुख, करो सुधारस पान॥ ३३॥

---

१. इन्द्रियोंको। २. मनोज्ञ। ३. त्याज्य।

(१२) गाथा—६४ इन्द्रियोंके आलंबनमें स्वाभाविक दुःख ही है।

षट्पद।

जिन जीवनिको विषयमाहिं, रतिरूप भाव है।
तिनके उरमें सहज, दुःख दीखत जनाव है॥
जो सुभावतैं दुःखरूप, इन्द्री नहिं होई।
तो विषयनिके हेत, करत व्यापार न कोई॥
[1]करि [2]मच्छ [3]द्विरेफ [4]शलभ, हरिन, विषयनि-वश तन परहरहिं।
यातैं इन्द्रीसुख दुखमई, कही सुगुरु [6]भवि उर धरहिं॥ ३५॥

(१३) गाथा—६५ सिद्धभगवानको शरीर विना भी सुख है, संसारदशामें शरीर सुखका साधन नहीं।

मनहरण।

संसार अवस्थाहूमें विभाव सुभावहीसों,
यही जीव आप सुखरूप छवि देत है।
जातैं पंच इन्द्रिनिको पायकै मनोग भोग,
ताको रस ज्ञायक सुभावहीसों लेत है॥
देह तो प्रगट जड़ पुग्गलको पिंड तामें,
ज्ञायकता कहां जाको सुभाव अचेत है।
तातैं जक्त मुक्त दोऊ दशामाहिं वृन्दावन,
सुखरूप भावनिको आतमा निकेत है॥ ३६॥

---

१ त्याज्य। २ हाथी। ३ मछली। ४ भ्रमर। ५ पतंग। ६ भव्यजीव।

(१४) गाथा–६६ यही बात दृढ़ करते हैं।

सर्वथा प्रकार देवलोकहूमें देखिये तो,
देह ही चिदातमाको सुख नाहिं करै है।
जद्यपि सुरग उतकिष्ट भोग उत्तम औ,
वैक्रियक काय सर्व पुण्य जोग भरै है॥
तहाँ विषयनिके विवश भयो जीव आप,
आप ही सुखासुखादि भावनि आदरै है।
ज्ञायक सुभाव चिदानंदकंदहीमें वृन्द,
तातैं चिदानंद दोऊ दशा आप धरै है॥ २७॥

(१५) गाथा–६७ जीव स्वयमेव सुख परिणामकी शक्तिवान् होनेसे विषयोंका अकिंचनत्व।

चौवोला।

जिन जीवनिकी तिमिर हरनकी, जो सुभावसों दृष्टि.... ।
तौ तिनको दीपक प्रकाशतैं, रंच प्रयोजन नाहिं चहै॥
तैसे सुखसुरूप यह आतम, आप स्वयं सरवंग लहै।
तहाँ विषय कहा करहिं वृन्द जहँ, सुधा सुभाविकसिंधु वहै॥३८॥

(१६) गाथा–६८ आत्माका सुखस्वभाव है–दृष्टान्त।

मत्तगयन्द।

ज्यों नभमें रवि आपुहितैं, धरै तेज प्रकाश तथा गरमाई।
देवप्रकृत्ति उदै करिकै, इस लोकविषैं वह देव कहाई॥
ताही प्रकार विशुद्ध दशा करि, सिद्धनिके मुनिवृन्द वताई।
ज्ञानरु सौख्य लसे सरवंग, सो देव अभंग नमों सिरनाई॥३९॥

मनहरण ।

प्रभा और उष्ण तथा देवपद,
तीनों ही विशेषनिको धरै मारतंड है ।
तैसे परमातममें सुपरप्रकाशक,
अनंतशक्ति चेतन सो ज्ञानगुनमंड है ॥
तथा आतमीक तृप्ति अनाकुल थिरतासों,
सहज सुभाव सुखसुधाको उमंड है ।
आतमानुभवीके सुभाव शिलामाहिं सो,
उकीरमान, जक्तपूज्य देवता अखंड है ॥ ४० ॥

दोहा ।

अतिइन्द्री सुखको परम, पूरन भयो विधान ।
कुन्दकुन्द मुनिको करत, वृन्दावन नित ध्यान ॥ ४१ ॥

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्रीप्रवचनसारजीकी वृन्दावनकृतभाषामें दूसरा सुखअधिकार पूर्ण भया[१] ।

१ संवत् १९०५ कार्तिक शुक्ला ५ बुधवासरे ।

१ ऐसा ही ख प्रतिमें है ।

ओंनमः सिद्धेभ्यः ।

अथ तृतीयज्ञानतत्त्वाधिकारः लिख्यते ।

मंगलाचरण । दोहा ।

वंदों श्रीसर्वज्ञपद, ज्ञानानंद सुचेत ।
जसु प्रसाद वरनन करों, इन्द्रिय सुखको हेत ॥

(१) गाथा–६९ इन्द्रियसुख और उसके साधन (शुभोपयोग)का स्वरूप ।

मत्तगयन्द ।

जो जन श्रीजिनदेव-जती-गुरु, –पूजनमांहिं रहै अनुरागी ।
चार प्रकारके दान कर नित, शील विपैं दिढ़ता मन पागी ॥
आदरसों उपवास करै, समता धरिकैं ममता मद त्यागी ।
सो शुभरूपपयोग धनी, वर पुण्यको बीज वबै वड़भागी ॥१॥

(२) गाथा–७० शुभोपयोग साधन उनका साध्य इन्द्रियसुख ।

कवित्त (३१ मात्रा)

शुभपरिनामसहित आतमकी, दशा सुनो भवि वृन्द सयान ।
उत्तम पशु अथवा उत्तम नर, तथा देवपद लहै सुजान ॥
थिति परिमान पंच इन्द्रिनिके, सुख विलसै तित विविध विधान ।
फेरि भ्रमै भवसागरहीमें, तातैं शुद्धपयोग प्रधान ॥२॥

(३) गाथा–७१ इसप्रकार उसे दुःखमें ही डालते हैं।

मत्तगयन्द ।

देवनिके अनिमादिक रिद्धिकी, वृद्धि अनेक प्रकार कही है ।
तौ भी अतिंद्रियरूप अनाकुल, ताहि सुभाविक सौख्य नहीं है ॥

यों परमागममाहिं कही गुरु, और सुनो जो तहाँ नित ही है ।
देहविथाकरि भोग मनोगनिमाहिं, रमै समता न लही है ॥ ३ ॥

(४) गाथा ७२ अब शुद्धोपयोगसे विलक्षण अशुद्ध उपयोग अतः शुभ-अशुभमें अविशेपता ।

मत्तगयन्द ।

जो नर नारक देव पशू सब, देहज दुःखविषैं अकुलाहीं ।
तो तिनके उपयोग शुभाशुभको, फल क्यों करिकै विलगाहीं ॥
जातैं निजातम पर्म सुधर्म, अतिंद्रिय शर्म नहीं तिनपाहीं ।
तो भविवृन्द विचार करो अब, कौन विशेष शुभाशुभमाहीं ॥ ४ ॥

दोहा ।

शुभपयोग देवादि फल, अशुभ दुखदफल नर्क ।
शुद्धातम सुखको नहीं, दोनोंमें संपर्क ॥ ५ ॥
तब शुभ अशुभपयोगको, फल समान पहिचान ।
कारजको सम देखिकै, कारन हू सम मान ॥ ६ ॥
तातैं इन्द्रीजनित सुख, साधक शुभउपयोग ।
अशुभपयोग समान गुरु, वरनी शुद्ध नियोग ॥ ७ ॥

(५) गाथा–७३ सुखाभासकी अस्ति ।

अशोक पुष्पमंजरी ।

वज्रपानि चक्रपानि. जे प्रधान [१]जक्तमानि,
ते शुभोपयोगतैं भये जु सार भोग है ।
तासुतैं शरीर और पंच अच्छपच्छको,
सुपोपते वढ़ावते रमावते मनोग है ॥

---

१. जगन्मान्य ।

लोकमें विलोकते सुखी समान भासते,
[१]जथैव जोंक रोगके विकारि रक्तको गहै।
चाह दाहसों दहै न [२]सामभावको लहै,
निजातमीक धर्मको तहां नहीं सँजोग है ॥ ८ ॥

(६) गाथा ७४ पुण्य तृष्णा–दुःखकारी हैं।

कवित्त (३१ मात्रा)

जो निहचै करि शुभपयोगतैं, उपजत विविध पुण्यकी रास।
स्वर्गवर्गमें देवनिके वा, भवनत्रिकमें प्रगट प्रकास ॥
तहाँ तिन्हैं तृष्णानल वाढ़त, पाय भोग-घृत आहुति ग्रास।
जातैं वृन्द सुधा-समरस विन, कबहुँ न मिटत जीवकी प्यास ॥ ९ ॥

(७) गाथा ७५ पुण्यमें तृष्णा बीज वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

मनहरण।

देवनिको आदि लै जितेक जीवराशि ते ते,
विषैसुख आयुपरजंत सब चाहैं हैं।
वहुरि सो भोगनिको वार वार भोगत हैं,
तिशना तरंग तिन्हैं उठत अथाहैं हैं ॥
आगामीक भोगनिकी चाह दुख दाह वढ़ी,
तासुकी सदैव पीर भरी उर माहैं हैं।
जथा जोंक रकत विकारको तव लों गहै,
जौलों शठ प्राणांतदशाको आय गाहैं हैं ॥ १० ॥

---

१. यथा एव = जैसे ही। २. साम्यभाव = समता।

(८) गाथा–७६ पुण्यजन्य इन्द्रियसुखका बहुत प्रकारसे दुखत्व।

कुण्डलिया।

इन्द्रियजनित जितेक सुख, तामें पंच विशेष।
पराधीन बाधासहित, छिन्नरूप तसु भेष॥
छिन्नरूप तसु भेष, विषम अरु बंध बढ़ावै।
यही विशेषन पंच, पापहूमें ठहरावै॥
तब अबको बुधिमान, चहै इन्द्रीसुख गिंदी।
तातैं भजत विवेकवान, सुख अमल अतिंदी॥ ११॥

(९) गाथा–७७ पुण्य–पाप कथंचित् समान हैं।

मत्तगयन्द।

पुण्यरु पापविषें नहिं भेद, कछू परमारथतैं ठहरै है।
जो इस भाँत न मानत है, बहिरातम बुद्धि वही गहरै है॥
सो जन मोह अछादित होय, भवोदधि घोर विषैं लहरै है।
ताहि न वार न पार मिलै, दुखरूप चहूंगतिमें हहरै है॥ १२॥

जैसे शुभाशुभमें नहिं भेद, न भेद भने सुख दुःखकेमाहीं।
ताही प्रकारतैं पुण्यरु पापमें, भेद नहीं परमारथठाहीं॥
जातैं जहाँ न निजातम धर्म, तहां चित्त चाहकी दाह सदाहीं।
तातैं सुरिंदहिमिंद नरिंदकी, संपतिको चित्त चाहत नाहीं॥ १३॥

पद्धतिका। (पद्धरी छंद)

जे जीव पुण्य अरु पापमाहिं। माने विभेद हंकार गाहिं।
[1]हेमाहनकी बेड़ी समान। हैं बंध प्रगट दोनों निदान॥ १४॥

---

१. सुवर्ण और लोहा।

परिपूरन जे धर्मानुराग। अवलंबैं शुद्धपयोग त्याग।
ताके फलतैं अहमिन्द इन्द। नर इन्द संपदा लहैं वृन्द ।१५।

तहाँ भोग मनोग शरीर पाय। विलसैं सुख वहुविधि प्रमित आय।
तित आकुलता दुःख मिटैं नाहिं। तव कहो कहांतैं सुखी आहिं ॥१६॥

(१०) गाथा–७८ पुण्य-पापमें बंधनत्व समान ही है। निर्णय करके राग-द्वेष-दुखको हटानेकी दृढता–शुद्धोपयोगका ग्रहण।

मत्तगयन्द।

जो नर या परकार जथारथ,–रूप पदारथको उर आनै।
रागविरोधमई परिनाम, कभी परद्रव्य विषैं नहिं ठानै॥
सो उपयोग विशुद्ध धरे, सब देहज दुःखनिको नित मानै।
आनंदकंद-सुभाव-सुधामधि, लीन रहै तिहि वृन्द प्रमानै ॥ १७ ॥

दोहा।

[1]आहनतैं [2]दाहन विलग, खात न घनकी घात।
त्यों चेतन तनराग विनु, दुखलव दहत न गात। १८॥

तातैं मुझ चिद्रूपको, शरन शुद्धउपयोग।
होहु सदा जातैं मिटै, सकल दुखद भवरोग ॥ १९ ॥

(११) गाथा–७९ मोहक्षयकी तैयारी

मत्तगयन्द।

पाप अरंभ सभी परित्यागिके, जो शुभचारितमें वरतंता।
जो यह मोहको आदि अनादिके, शत्रुनिको नहिं त्यागत संता॥

---

१. लोहा। २. अग्नि।

तो वह शुद्ध चिदानंद संपति,—को तिरकाल विषैं न लहन्ता ।
याही तैं मोह महारिपुकी, रमनी दुरबुद्धिको त्यागहिं संता ॥ २० ॥

दोहा ।

तात साध्यसरूप है, शुद्धरूप उपयोग
ताके बाधक मोहको, दिढ़तर तजिवो जोग ॥ २१ ॥
जो शुभ ही चारित्रको, जाने शिवपद हेत ।
तो वह कबहुं न पाय है, अमल निजातम चेत ॥ २२ ॥

(१२) गाथा–८० उसे जीतनेका उपाय

हरिगीतिका ।

दरव–गुन–परजायकरि, अरहंतको जो जानई ।
घातिदल दलमल सकल, तसु अमलपद पहिचानई ॥
सो पुरुष निज नित आत–भीक स्वरूपको जानै सही ।
तासके निहचैपनैसों, मोह नाश लहै यही ॥ २३ ॥

मनहरण ।

जैसे वारै बानीको पकायौ भयौ चामीकर,
सर्वथा प्रकार होत शुद्ध निकलंक है ।
तैसे शुद्ध ध्यानानल जोगतैं करममल,
नासिके अमल अरहंत जू अटंक है ॥
तिनके दरवमें जु ज्ञानादि विशेषन हैं,
तिनहीको गुन नाम भाषत निशंक है ।
एक समै मात्र कालके प्रमान चेतनके,
परनतिको भेद परजाय सो अवंक है ॥ २४ ॥

ऐसे द्रव्य गुन परजाय अरहंतजूको,
प्रथम अपाने. मनमाहिं अवधारै है ।
पीछे निज आतमको ताही भांति जानिकै,
अभेदरूप अनुभव दशा विसतारै है ॥
त्रिकालके जेते परजाय गुन आतमाके,
तेते एकै कालमाहिं ध्यावत उदारै है ।
ऐसे जब ध्याता होय ध्यावै निज आतमाको,
वृन्दावन सोई मोह कर्मको विदारै है ॥ २५ ॥

जैसे कोऊ मोतिनिको हार उर धारै ताको,
भेद छांड़ि शोभाको अभेद सुख लेत है ।
तैसे अरहंतके समान जान आपरूप,
अभेद सरूप अनुभवत सचेत है ॥
चेतना परजके प्रवाहतैं अभेद ध्यावै,
तथा चित्प्रकाशगुनहूको गोपि देत है ॥
केवल अभेद आतमीक सुख वेदै तहां,
करता करम क्रिया भेद न धरेत है ॥ २६ ॥

जैसें चोखे रत्नको अकप निर्मल प्रकाश,
तैसें चित्प्रकाश तहाँ निश्चल लहत है ।
जब ऐसी होत है अवस्था तब भेद छेद,
चेतनता मात्र ही सुभावको गहत है ॥
मोह अंधकार तहां रहै कौनके अधार,
भानुको उजास तथा तिमिर दहत है ।
यही है उपाय मोह वाहिनीके जीतिवेको,
वृन्दावन ताको शरनागत चहत है ॥ २७ ॥

(१३) गाथा-८१ चिंतामणि प्राप्त किया किन्तु प्रमाद-जो चोर है-इसप्रकार विचार कर विशेष जागृत रहता है।

माधवी।

जिस जीवके अंतरतैं तिहुरंतर, दूर भया यह मोह मलाना।
निज आतमतत्त्व जथारथकी, तिनके भई प्रापति वृन्द निधाना॥
तदि जो वह रागरु दोष प्रमाद, कुभावहुको तजि देत सयाना।
तदि सो वह शुद्ध निजातमको, निहचै करि पावत है परधाना॥

दोहा।

यातैं मोह निवारिके, पायौ करि बहु जत्न।
आतमरूप अमोल निधि, जो चिन्तामणि रत्न॥२९॥
ताके अनुभवसिद्धके, बाधक रागरु दोष।
इनहूँको जब परिहरैं, तब अनुभवसुख पोष॥३०॥
नाहीं तो ये चोर ठग, लूटैं अनुभव रत्न।
फिर पीछे पछिताय है, तातैं करु यह जत्न॥३१॥
सावधान वरतौ सदा, आतम अनुभवमाहिं।
राग-द्वेषको परिहरो, नहिं तो ठग ठगि जाहिं॥३२॥

(१४) गाथा-८२ यह एक उपाय है जोकि भगवन्तोंने स्वयं अनुभव करके दर्शाया वही मोक्षका सत्यार्थ पंथ है।

मनहरण।

ताही सुविधान करि तीरथेश अरहंत,
सर्व कर्म शत्रुनिको मूलतैं विदारी है।

तिसी भांति देय उपदेश भव्य वृन्दनिको,
आप शुद्ध सिद्ध होय वरी शिवनारी है ॥
सोई शिवमाला विराजतु है आज लगु,
अनादिसों सिद्ध पंथ यही सुखकारी है ।
ऐसे उपकारी सुखकारी अरहंतदेव,
मनवचकाय तिन्हैं वन्दना हमारी है ॥ ३३ ॥

(७५) गाथा–८३ लूंटेरा मोह उसका स्वभाव और भेद

मनहरण ।

जीवको जो दव्वगुनपर्जविषैं विपरीत,
अज्ञानता भाव सोई मोह नाम कहा है ।
[1]कनकके खाये बउरायेके समान होय,
जथारथज्ञान सरधान नाहिं लहा है ॥
ताही [2]दृगमोहतैं अछादित हो चिदानंद,
पर द्रव्यहीको निजरूप जानि गहा है ।
तामें रागद्वेषरूप भाव धरैं धाय धाय,
याहीतैं जगतमें अनादिहीसों रहा है ॥ ३४ ॥

अनादि अविद्यातैं विसारि निजरूप मूढ़,
परदर्व देहादिको जानै रूप अपना ।
इष्टानिष्ट भाव परवस्तुमें सदैव करै,
वे तो ये स्वरूप याकी झूठी है कलपना ॥
जथा नदीमाहिं पुल पानीकी प्रबलतासों,
दोय खंड होत तथा भावकी जलपना ।

१. धतूरा । २. दर्शन मोहिनीसे ।

एके मोह त्रिविध त्रिकंटक सुभाव धेरै,
झूठी वस्तु सांची दरसाव जथा सपना ॥ ३५ ॥

(१६) गाथा–८४ तीनों प्रकारके मोहको अनिष्ट कार्यका कारण मानकर क्षय करनेका कहा जाता है ।

पट्पद ।

मोह भावकरि तथा, राग अरु द्वेष भावकर ।
जब प्रनवत है जीव, तबहि बंधन लहंत तर ॥
विविधभांतिके भेद, तासु बंधनके भाखे ।
जाके फल संसार, चतुर्गतिमें दुख चाखे ॥
तातें मोहादि त्रिभावकों, सत्तासों अब छय करौ ।
है जोग यही उपदेश सुनि, भविक वृन्द निज उर धरौ ॥ ३६ ॥

पुनः । दृष्टान्त ।

जथा मोहकरि अघ, [1]वनज गज मत्त होत जब ।
आलिंगन जुतप्रीति, [2]करिनिको धाय करत तब ॥
तहां और गज देखि, द्वेषकरि सनमुखधावत ।
तृणछादित तब कूपमांहि, परि संकट पावत ॥
यह मोह राग अरु द्वेष पुनि, बंध दशाको प्रगट फल ।
गजपर निहारि निजपरपरखि, तजहु त्रिकंटक मोह मल ॥ ३७ ॥

दोहा ।

तातें इस उपदेशको, सुनो मूल सिद्धंत ।
मोह राग अरु द्वेषको, करौ भली विधि अंत ॥ ३८ ॥

---

१. जंगली हाथी । २. हस्तिनी ।

(१७) गाथा—८५ उनके चिन्ह यह हैं—पहिचानकर नष्ट करने योग्य ।

द्रुमिला ।

अजथारथरूप पदारथको, गहिकैं निहचै सरधा करिवो ।
पशुमानुषमें ममता करिकै, अपने मनमें करुना धरिवो ॥
पुनि भोगविषैं मह इष्ट-अनिष्ट, विभावप्रसंगनिको भरिवो ।
यह लच्छन मोहको जानि भले, मिल्यौ जोग है इन्हैं हरिवो ॥ ३९ ॥

दोहा ।

तीन चिह्न यह मोहके, सुगुरु दई दरसाय ।
'वृन्दावन' अब चूक मति, जड़तैं इन्हैं खपाय ॥ ४० ॥

(१८) गाथा—८६ मोहक्षयका अन्य उपाय ।

मनहरण ।

परतच्छ आदिक प्रमानरूप ज्ञानकरि,
सरवज्ञकथित जो आगमतैं जानै है ।
सत्यारथरूप सर्व पदारथ 'वृन्दावन',
ताको सरधान ज्ञान हिरदैमें आनै है ॥
नेमकरि ताको मोह संचित खिपत जात,
जाको भेद विपरीत अज्ञान विधानै है ।
तातैं मोह शत्रुके विनासिवेको भलीभांति,
आगम अभ्यासिवो ही [1]जोगता वखानै है ॥ ४१ ॥

---

१. योग्यता ।

(१९) गाथा-८७ जिनागममें पदार्थोंकी व्यवस्था ।

मनहरण ।

सर्व दर्वमाहिं गुन परजाय राजत हैं,
तहां गुन सदा संग वसत अनंत है ।
क्रमकरि वर्तत कहावै परजाय सोई,
इन तिनहूको नाम अरथ अनंत है ॥
तामें गुन पर्जको जो सरव अधारभूत,
ताहीको दरव नाम भाषी भगवंत है ॥
येही तीनों भेदरूप आतमा विलोकौ वृन्द,
जैसे कुन्दकुन्दजीने भाषी विरतंत है ॥ ४२ ॥

द्रव्य गुन पर्जको कहावत अरथ नाम,
तहाँ गुन पर्ज करै द्रव्यमें गमन है ॥
तथा द्रव्य निज गुनपर्जमें गमन करै,
ऐसे 'अर्थ' नाम इन तीनोंको अमन है ॥
जैसे हेम निज गुन पर्जमें रमन करै,
गुन परजाय करें हेममें रमन है ।
ऐसो भेदाभेद निजआतममें जानो वृन्द,
स्यादवाद सिद्धांतमें दोषको दमन है ॥ ४३ ॥

दोहा ।

यातैं जिन सिद्धांतको, करो भले अभ्यास ।
मिटै मोहमल मूलतैं, होय शुद्ध परकास ॥ ४४ ॥

(२०) गाथा—८८ मोहक्षयका उपदेशकी प्राप्ति तो है किन्तु पुरुपार्थ अर्थ क्रियाकारी होनेसे पुरुपार्थ करते हैं।

षट्पद।

जो जन श्रीजिनराजकथित, उपदेश पाय करि।
मोह राग अरु द्वेष, इन्हैं घातै उपाय धरि ॥
सो जन उद्यमवान, वहुत थोरे दिनमाहीं।
सकल दुःखसों मुक्त, होय भवि शिवपुर जाहीं ॥
यातैं जिनशासन कथनका, सार सुधारस पीजिये।
वृन्दावन ज्ञानानंदपद, ज्यों उतावली लीजिये ॥ ४५ ॥

(२१) गाथा—८९ भेदज्ञानसे ही मोहका क्षय है अतः स्व-पर विभागकी सिद्धि अर्थ प्रयत्न।

मनहरण।

आतमा दरव ही है ज्ञानरूप सदाकाल,
ज्ञान आतमीक यह आतमा ही आप है।
ऐसी एकताई ज्ञान आतमकी वृन्दावन,
ताको जो प्रतीति प्रीति करै जपै जाप है ॥
तथा पुग्गलादिको सुभाव भलीभांति जानै,
जान भेद जैसे जीव कर्मको मिलाप है।
सोई भेदज्ञानी निजरूपमें सुथिर होय,
मोहको विनासै जातैं नसै तीनों ताप है ॥ ४६ ॥

(२२) गाथा—९० यह आगमानुसार करने योग्य है।

तातैं जिन आगमतैं द्रव्यको विशेष गुन,
जथारथ जानो भले भेदज्ञान करिकै।

तामें निज आतमके गुन निजमाहिं जानो,
परगुन भिन्न जानो भर्मभाव हरिकै ॥
नाना दीप जोत एक भौनमें भरे हैं पै,
नियारे सर्व तैसे सर्व दर्व भिन्न भरिकै ।
जो तू मोह नासिके अबाध सुख चाहै तौ तो,
आपहीमें आप देख ऐसे ध्यान धरिकै ॥ ४७ ॥

दोहा ।

दरवनिमें दो भांतिके, गुन वरतंत सदीव ।
है सामान्य स्वरूप इक, एक विशेष अतीव ॥ ४८ ॥
तामें आतमरसिक जन, गुन विशेष उरधार ।
द्रव्यनिको निरधार करि, सरधा धरैं उदार ॥ ४९ ॥
एकक्षेत्र अवगाहमें, हैं षड्द्रव्य अनाद ।
निज निज सत्त को धरैं, जुदे जुदे मरजाद ॥ ५० ॥
ज्योंका त्यों जानों तिन्हें, तामें सों निजरूप ।
भिन्न लखौ सब दर्वतैं, चिदानंद चिद्रूप ॥ ५१ ॥
ताके अनुभवरंगमें, पगो 'वृन्द' सरवंग ।
मोह महारिपु तुरत तब, होय मूलतैं भंग ॥ ५२ ॥

(२३) गाथा—९१ जिन कथित अर्थोंकी श्रद्धा विना धर्मलाभ नहीं होता ।

मनहरण ।

सत्ता सनबंध दोय भांति है दरवमाहिं,
सामान्य विशेष जो कुतर्कसों अबाध है ।

जैसे वृच्छजातितैं समान सर्व वृच्छ और,
आमनिंब आदितैं विशेषता अगाध है ॥
तैसें सत्ता भावकरि सव्व दव्व अस्ति औ,
विशेष सत्ता लियैं सब जुदे निरुपाघ है ।
साधु होय याको जो न निहचै प्रतीत करे,
ताकों शुद्ध धर्मको न लाभ सो न साध है ॥ ५३ ॥

नरेन्द्र ।

यों सामान्य-विशेष-भावजुत, दरवनिको नहिं जानै ।
स्वपरभेदविज्ञान विना तव, निज निधि क्यों पहिचानै ॥
तो सम्यक्त भाव विनु केवल, दरवलिंगको धारी ।
तप संजमकरि खेदित हो है, बरै नाहिं शिवनारी ॥ ५४ ॥

मनहरण ।

जैसें रजसोधा रज सोधत सुवर्न हेत,
जो न ताहि सोनाको पिछांन उरमाहीं है ।
तौ तो खेद वृथा तैसें यहाँ भेदज्ञान विनु,
सुपरं पिछानैं मुनिमुद्रा जे धराहीं है ॥
तप संजमादिक कलेश करै कायकरि,
सो तो शुद्ध आतमीक धर्म न लहाही है ।
ताके भावरूप मुनिमुद्रा नाहिं वृन्दावन,
ऐसे कुन्दकुन्द स्वामी विदित कहा ही है ॥ ५५ ॥

चौपाई ।

प्रथमाह श्रीगुरुदेव कहा था । [1]"उवसंपयामी सम्मं" गाथा ।
ताकरि साम्यभाव शिव कारन । यह निहचै कीन्हों उर धारन ॥५६॥

१–पांचवीं गाथा ।

फिर कहि सुगुरु सुहित अभिलाषा। [2]"चारित्तं खलुधम्मो" भाषा।
जोई सामभाव थिर पर्म। शुद्धपयोगरूप सो धर्म ॥५७॥

पुनि गुरुदेव कही करि करुना। [3]'परिणमदि जेण दव्व' विवरुना।
ताकरि सामभाव सोई आतम। अति एकतामई परमातम ॥५८॥

फिर गुरु दीनदयाल उदारा। [4]'धम्मेण परिणदप्पा' उचारा।
ताकरि सिद्ध कियो पद पर्म। साम्य शुद्ध उपयोग सुधर्म ॥५९॥

इहि विधि शुद्ध धरम परशंसा। शुभ औ अशुभपयोग विध्वंसा।
परम अतिन्द्री ज्ञानानंदा। निज स्वरूप पायो निर्द्वंदा ॥६०॥

अति हि अनाकुल अचल महा है। शुद्धधर्म निजरूप गहा है।
तहाँ अकंप जोति निज जागै। वृन्दावन तासों अनुरागै ॥६१॥

(२४) गाथा-९२ आगमकुशल, निहतमोहदृष्टि, वीतराग चारित्रवंतको धर्म कहा है।

मनहरण।

जाने मोहदृष्टिको विशिष्टपने घातकरि,
पायो निजरूप भयो सांचो समकिती है।
सरवज्ञभाषित सिद्धांतमें प्रवीन अति,
जथारथ ज्ञान जाके हियेमें जगती है॥
वीतराग चारितमें सदा सावधान रहै,
सोई महामुनि शिवसाधक सुमती है।
ताही भावलिंगी मुनिराजको धरम नाम,
विशेषपनेंतैं कह्यो सोई शुद्ध जती है ॥ ६२ ॥

२-सातवीं गाथा। ३-आठवीं गाथा। ४-ग्यारहवीं गाथा।

अनेकांतरूप जिनराजको शब्द ब्रह्म,
होउ जयवंत जामें सांचो शिवपंथ है ।
अनादिकी मोह—गांठि भेदके किनोर करै,
आतमस्वरूप जहाँ पावै भ्रम मंथ है ॥
शुद्ध उपयोग पर्म धर्म जामें लाभ होत,
छूटै जातैं सर्व कर्म बंधनको कंथ है ।
वृन्दावन वंदत मुनिंद कुन्दकुन्दजूको,
सेवैं शिव होत प्रवचनसार ग्रंथ है ॥ ६३ ॥

दोहा ।

वंदों श्री जिनराजपद, शुद्ध चिदानन्दकन्द ।
ज्ञानतत्त्व अधिकार यह, पूरन भयो अमंद ॥ ६४ ॥

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजीकी वृन्दावनअग्रवाल गोइलगोत्री काशीवासिकृत भाषामें तीसरा ज्ञानतत्त्व अधिकार संपूर्ण भया ।

[1]संवत् १९०५ कार्तिक शुक्ला द्वादशी बुधवासरे वृन्दावनने लिखी, प्रथम प्रति है, सो जयवंती वरतौ । श्रीरस्तु ।

१. दूसरी प्रतिमें भी इस प्रकार लिखा है ।

ओ नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ चतुर्थ–ज्ञेयतत्त्वाधिकारः ।

तत्र इष्टदेव वन्दना ।

दोहा ।

वन्दों श्रीसर्वज्ञ जो, वर्जित सकलविकार ।
विघनहरन मंगलकरन, मनवांछित-दातार ॥ १ ॥
ज्ञेयतत्त्वके कथनका, अब अधिकार अरंभ ।
श्रीगुरु करत दयालचित, त्यागि मोह मद दंभ ॥ २ ॥
कुन्दकुन्द गुरुदेवके, चरनकमल सिर नाय ।
वृन्दावन भाषा लिखत, निज परको सुखदाय ॥ ३ ॥

(१) गाथा–९३ ज्ञेयतत्त्व पदार्थका द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वर्णन ।

मनहरण ।

जेते ज्ञानगोचर पदारथ हैं ते ते सर्व,
दर्व नाम निहचैसों पावैं सरवंग हैं ।
फेरि तिन द्रव्यनिमें अनंत अनंत गुण,
भाषे जिनदेव जाके वचन अभंग हैं ॥
पुनि सो दरव और गुननिमें वृन्दावन,
परजाय जुदी-जुदी वसैं सदा संग हैं ।
ऐसी दोई भांति परजायको न जानै जोई,
सोई मिथ्यामती परसमयी कुढंग हैं ॥ ४ ॥

विशेषवर्णन-दोहा

ज्ञेय पदारथ है सकल, गुन–परजै संजुक्त ।
तातैं दरव कहावहीं, यह जिनवकी उक्त ॥ ५ ॥

गुन कहिये विस्तारकों, जो चौड़ाईरूप ।
संग वसत नित दरवके, अविनाभावसरूप ॥ ६ ॥

परजकों आयत कहैं, ज्यों लम्बाई होय ।
घटै बढ़ै क्रमसों रहै, भेद तासुके दोय ॥ ७ ॥

एक दरव परजाय है, गुनकी परज़ दुतीय ।
दो दो भेद दुहूनमें, सुनो समरसी जीय ! ॥ ८ ॥

अथ पर्यायभेद कथन—मनहरण ।

दर्वकी परज दोय भांति यों कथन करी,
एक है समान जाति दूजी असमान है ।
पुग्गलानु अनेकको खंध सो समानजाति,
जीव पुद्गल मिलें असमानवान है ॥
गुनहूकी दोय परजाय एक सुभाविक,
षटगुनी हानि-वृद्धि जथा जोग ठान है ।
दूसरो विभाव वरनादि गुन खंधविषैं,
ज्ञानादिक पुग्गलके जोग ज्यों मलान है ॥ ९ ॥

वस्त्रहीको पाट जोड़ें होतु है समानजाति,
तथा पुग्गलानु मिलें खंध परजाय है ।
रेशमी कपासी मिलें होत असमान चीर,
तथा देह जीव पुद्गल मिले पाय है ॥
जथा वस्त्र सेत है सुभाव गुन परजाय,
तथा षटगुनी हानि-वृद्धि भेद गाय है ।
परके प्रसंगसे तरंग ज्यों विभाव त्यों ही,
ज्ञानादि परके संग विभाव कहाय है ॥ १० ॥

कवित्त। (३० मात्रा)

इहि विधि दरवनिके गुन परजै, भनी जिनागममें तहकीक।
भेदज्ञानकरि भविक वृन्द दिढ़, सरधा रुचिसों धेर अधीक॥
मिथ्यामती न जानै याकों, एक एक नय गहै अठीक।
शिवहित हेत अफल करनी तसु, "पीटै मूढ़ सांपकी लीक" ॥११॥

(२) गाथा–९४ अब आनुषंगिक ऐसी यह ही स्वसमय-परसमयकी व्यवस्था (भेद) उपसंहार।

षट्पद।

जे अज्ञानी जीव, देहहीमें रति राचे।
अहंकार ममकार धरे, मिथ्यामद माचे॥
तिनहीको परसमय नाम, भगवंत कहा है।
अरु जो आतमभाव विषैं, लवलीन रहा है॥
तिन आतमज्ञानी जीवको, स्वसमयरत जानो सही।
वह चिद्विलास निजरूपमें, रमत वृन्द निज निधि लही ॥ १२ ॥

मनहरण।

अनादि अविद्यातैं आच्छादित है सांचो ज्ञान,
असमान देहहीको जानै रूप अपना।
नाना निंद्यक्रियामाहिं अहंममकार करै,
सोई परसमै ताकी झूठी है जलपना॥
जिनके स्वरूपज्ञान भयो है जथारथ औ,
मिटी मोह राग दोष भावकी कलपना।
एकरूप ज्ञानजोति जगी है अकंप जाके,
सोई स्वसमयको न भवाताप तपना ॥ १३ ॥

(३) गाथा—९५ द्रव्यका लक्षण ।

काव्य ।

जो स्वभाव नहिं तजै, सदा अस्तित्व गहै है ।
औ उतपत व्यय ध्रौव्य,—सहित सब काल रहै है ॥
पुनि अनंतगुणरूप, तथा जो परज नई है ।
ताहीको गुरुदेव, दरव यह नाम दई है ॥ १४ ॥

सोरठा ।

गुन है दोय प्रकार, इक सामान्य विशेष इक ।
सुनि समुझो निरधार, सरधा धरि भवदधि तरो ॥ १५ ॥

मनहरण ।

अस्ति नास्ति एकानेक दव्वत्त परजत्त,
सर्वासर्वगत सप्रदेशी अप्रदेशी है ।
मूरत—अमूरत सक्रिया औ अक्रियावान,
चेतन—अचेतन सकर्त्ता-कर्त्ता तेसी है ॥
भोगता—अभोगता अगुरुलघु ए समान,
दर्वनिके गुन वृन्द गुरु उपदेशी है ।
अवगाह गति थिति वर्तना मूरतवंत,
चेतनता गुन कहे लच्छन विशेषी है ॥ १६ ॥

दोहा ।

दरवनिके अरु गुननिके, परनतिके जे भेद ।
सो परजाय कहावई, समुझो भवि भ्रमछेद ॥ १७ ॥

मनहरण

उत्पाद-व्यय ध्रुव गुन परजाय यही,
लच्छनको धरै द्रव्य लच्छ नाम पावै है ।

ताहि उतपादादि औ गुन परजायहीतैं,
लखिये है यातैं यह लच्छन कहावै है ॥
[1]करतार [2]साधन [3]अधार दर्व इनको है,
इन विना द्रव्यहू न सिद्धिता लहावै है ।
[4]लच्छ और लच्छनमें जद्यपि विविच्छाभेद,
तथापि स्वरूपतैं अभेद ठहरावै है ॥ १८ ॥

(४) गाथा–९६ दो प्रकार अस्तित्व–स्वरूपास्तित्व, सादृश्यास्तित्व, स्वरूपास्तित्वका कथन।

दर्वका सरवकालमाहिं असतित्व सोई,
निहचैसों मूलभूत सहज सुभाव है ।
सोई निज गुण औ स्वकीय नाना पर्जकरि,
औ उतपाद–व्यय–ध्रौव्यता लहाव है ॥
करतार साधन अधार दर्व इनको है,
इन विना द्रव्यहू न सिद्धिताकों पाव है ।
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकरि सदा एक ही है,
साधिवेके हेत लच्छ-लच्छन जनाव है ॥ १९ ॥
जैसे द्रव्य-छेत्र-काल-भावकरि कंचनतैं,
पीततादि गुन [5]पर्ज कुण्डल न जुदै हैं ।
करतार साधन अधार याको [6]हेम ही है,
जातैं हेमसत्ता विना इनको न उदै है ॥
कुण्डलको नाश उतपाद होत कंकनको,
हेमद्रव्य ध्रौव्य गुन पीतादि समुदै है ।

---

१. कर्त्ता । २. करण । ३. अधिकरण । ४. जिसका लक्षण किया जावे । ५. पर्याय । ६. सुवर्ण–सोना ।

तैसे सर्व दर्व निज गुन परजाय तथा,
उतपाद व्यय ध्रुव सहित प्रमुदै है ॥ २० ॥

दोहा।

दरव स्वगुनपरजायकरि, उतपत–व्यय,–ध्रुव–जुत्त ।
रहत अनाहतरूप नित, यही [१]स्वरूपास्तित्त ॥ २१ ॥
पर दरवनिके गुन [२]परज, तिनसों मिलतौ नाहिं ।
निज स्वभावसत्ताविषैं, प्रनमन सदा कराहिं ॥ २२ ॥

(५) गाथा–९७ सादृश्य–अस्तित्वका कथन ।

मनहरण।

नाना परकार यहां लच्छनके भेद राजैं,
तामें एक सत सर्व दर्वमाहिं व्याप है ।
ऐसे सरवज्ञ वस्तुको स्वभाव धर्म कह्यो,
जो सरव दर्वको सदृशकरि थापै है ॥
जैसे वृच्छ जातिकी सदृश और सत्ता और,
लच्छन विशेषकरि जुदी-जुदी तापै है ।
मुख्य मौन द्वारतैं अदोष वृन्द सर्व सधै,
सामान्य विशेष धर्मधारी दर्व आपै है ॥ २३ ॥

दोहा।

सहजस्वरूपास्तित्वकरि, जुदे-जुदे सब दर्व ।
निज-निज गुन लच्छन धरैं, है विचित्र गति पर्व ॥ २४ ॥
अरु सादृश्यास्तित्वकरि, सब थिर थपन अबाध ।
सत लच्छनके गहनतैं, यही एक निरुपाध ॥ २५ ॥

१. स्वरूपास्तित्व । २. पर्याय ।

तिहूँकालमें जासको, बाधा लगै न कोय।
सोई सतलच्छन प्रबल, सब दरवनिमें होय ॥ २६ ॥

(६) गाथा–९८ किसी द्रव्यसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं और द्रव्यसे अस्तित्व कोई पृथक् नहीं है।

मनहरण।

अपने सुभावहीसों स्वयंसिद्ध द्रव्य नित,
निजाधार निजगुणपरजको मूल है।
सोई है सत्तास्वरूप ऐसे जिनभूप कह्यौ,
तत्त्वभूत वस्तुको स्वभाव अनुकूल है॥
द्रव्यको स्वभावरूप सत्ता गुन 'वृन्दावन',
प्रदेशतें भेद नाहिं दोऊ समतूल है।
आगम प्रमान जो न करै सरधान याको,
सोई परसमयी मिथ्याती ताकी भूल है ॥ २७ ॥

दोहा।

जदपि जीव पुदगल मिले, उपजहिं बहु परजाय।
तदपि न नूतन दरवकी, उतपति बरनी जाय ॥ २८ ॥

मनहरण।

द्रव्य गुनखान तामें सत्ता गुन है प्रधान,
गुनी-गुनको यहाँ प्रदेशभेद नाहीं है।
संज्ञा संख्या लच्छन प्रयोजनतें द्रव्यमाहिं,
कथंचित भेद पै न सर्वथा कहाहीं है॥

दंडके धरेतैं जैसे दंडी तैसे यहां नाहिं,
यहां तो स्वरूपतैं अभेद ठहराहीं है।
दर्वको सुभाव है अनंत गुनपर्जवंत,
ताको सांचो ज्ञान भेदज्ञानी वृन्दपाहीं है ॥ २९ ॥

जब परजायद्वार दरब विलोकिये तौ,
गुनी गुन भेदनिकी उठत तरंग है ॥
और जब दर्वदिष्ट देखिये तौ गुनीगुन,
भेदभाव डूबै रहै एक रस रंग है ॥
जैसे सिन्धुमाहिं भेद जद्दपि कलोलिनितैं,
निहचै निहारैं वारि सिंधुहीको अंग है।
तैसे दोनों नैनके समान दोनों नयननितैं,
वस्तुको न देखै सोई मिथ्याती कुढ़ंग है ॥ ३० ॥

(७) गाथा–९९ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य 'सत्' है।

अपने सुभावपरनतिविषैं सदाकाल,
तिष्ठतु है सत्तारूप वस्तु सोई दर्व है।
द्रव्यको जो गुनपरजायविषैं परिनाम,
निश्चैकरि ताहीको स्वभाव नाम सर्व है ॥
सोई ध्रुव-उतपाद-वय इन भावनितैं,
सदा सनबंधजुत राजत सुपर्व है।
ऐसी एकताई कुन्दकुन्दजी बताई वृन्द,
बन्दतु है तिन्हैं सदा त्यागि उर गर्व है ॥ ३१ ॥

विशेष वर्णन। चौपाई।

दरवनिको गुनपरजयरूप। जो परिनाम होत तद्रूप।
ताको नाम सुभाव भनन्त। सो ध्रुव-उतपत-वयजुत तंत॥ ३२॥

एक दरवके जथा कहेस। चौड़े सूक्ष्म अनेक प्रदेश।
त्यों प्रनवनरूपी परवाह। लंबाई क्रमसहित अथाह॥ ३३॥

मनहरण।

दर्वनिके परदेश चौड़ाई समान कहे,
जातैं ये प्रदेश सदाकाल स्थायीरूप हैं।
पर्नत प्रवाह ताकी क्रमहीतैं होत तातैं,
लम्बाई समान याको सुगुरु प्ररूप हैं॥
जेते हैं प्रदेश ते ते निज-निज थानहीमें,
पुव्वकी अपेच्छा उतपन्नमान भूप हैं।
आगेकी अपेच्छा व्ययरूप औ दरव एक,
सर्वमाहि यातैं ध्रुव अचल अनूप है॥ ३४॥

दोहा।

या प्रकार परदेशको, उतपत-वय-ध्रुव जान।
जथाजोग सरधा धरो, अब सुन और बखान॥ ३५॥

मनहरण।

जैसे परदेशनिको त्रिधारूप सिद्ध करी,
तैसे परिनामहूको ऐसे भेद कहा है।
पहिले समैके परिनाम उतपादरूप,
पीछेकी अपेच्छा सोई वयभाव गहा है॥

सदा एक दर्वके अधार परवाह वहै,
तातैं द्रव्य द्वारतैं सो ध्रौव्य सरदहा है।
ऐसे उतपाद-वय-धुवरूप परिनाम,
दर्वको सुभाव निरुवाध सिद्ध लहा है ॥ ३६ ॥

जैसे मुकताफलकी माला सूतमाँहि पोयें,
तेजपुंज मंजु नाना मोतिनिकी दाना है।
पुव्व-पुव्व दानेकी अपेच्छा आगे आगेवाले,
उतपाद पाछेवाले वयकरि माना है ॥
एकै सूत सर्वमाहिं तासकी अपेच्छा धुव,
तैसे दर्वमाहिं तीनों साधत सयाना है।
ऐसे नित्यानित्य लच्छ लच्छन अवाध सधैं,
धन्य जैनवैन स्यादवाद जाको वाना है ॥ ३७ ॥

(८) गाथा–१०० उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यका परस्पर अविनाभाव दृढ़ करते हैं।

मत्तगयन्द ।

[1]भंग विना न वनै कहुं [2]संभव, संभव हू विन भंग न हो है।
औ निहचै विनु ध्रौव पदारथ, व्यै उतपाद कहूँ नहिं सोहै ॥
ज्यों मृतपिंडतैं कुंभ वनै, धुव दर्व दोऊमहँ एकहि हो है।
त्यों सब दर्व त्रिधातम लच्छन, जानत वृन्द विचच्छन जो है ॥३८॥

चौपाई ।

वय विनु नाहिं होत उतपादं। उतपत विना न व्यय मरजादं।
उतपत वय विनु ध्रौव्य न होई। धुव विन उतपत वय हु न जोई ॥३९॥

---

१. व्यय (नाश)। २. उत्पाद।

तातैं जो उतपत्त सोई व्यै । सोई नाश सोई उतपत है ।
जो उतपत व्यय है ध्रुव सोई । जो ध्रुव सो उतपत व्यय होई ॥ ४० ॥

मनहरण ।

जैसे [1]मृत्पिंडको विनाश [2]कुंभ उतपात,
दोनों परजाय धरे दर्व [3]ध्रुव देखिये ।
विना परजाय कहूँ दर्व नाहिं सरवथा,
द्रव्य विना परजाय हू न कहूँ पेखिये ॥
तातैं उतपादादि स्वरूप दर्व आपही है,
स्वयंसिद्ध भलीभाँति सिद्ध होत लेखिये ।
यामैं एक पच्छ गहैं लच्छ लच्छ दोष लौं,
वृन्दावन तातैं त्रिधा लच्छन परेखिये ॥ ४१ ॥

षट्पद ।

केवल ही उतपाद कहैं, दो दूषन गाजै ।
उपादान कारन-विहीन, घट कर्म न छाजै ॥
ध्रौव्य वस्तु बिनु जो मूरख, उतपाद बतावै ।
सो अकाशके फूल, बांझसुत मौर बनावै ॥
जो केवल ही वय मानिये, तो उतपति बिनु नास किमि ।
पुनि ध्रौव्यवस्तुके नासतैं, ज्ञानादिक गुन नास तिमि ॥ ४२ ॥
जो केवल ध्रुव ही प्रमान, इक पच्छ मानिये ।
तो दो दूषन तासमाहिं, परतच्छ जानिये ।
प्रथम नास परजाय,—धरमको नाश होत है ।
बिनु परजाय न दरव, कहूं निहचै उदोत है ॥

1. व्यय=नाश । 2. मिट्टीका पिंड । 3. घड़ा ।

जो है अनित्त कहूँ नित्त पद, तौ मनकी गति नित्त गन ।
यातैं निरविघन त्रिधातमक, लच्छन द्रव्य प्रतच्छ भन ॥ ४३ ॥

(९) गाथा–१०१ उत्पादादि द्रव्यसे पृथक् पदार्थ नहीं ।

द्रुमिला ।

परजायविषैं उतपादरु व्यै ध्रुव,
　　वर्ततु हैं क्रमही करिके ।
निहचैकरि सो परजाय सदा,
　　नित दर्वहिमाहिं रहै भरिके ॥
तिहितैं सबमें वह द्रव्यहि है,
　　सरवंग दशा अपनी धरिके ।
जिमि वृच्छतैं मूल न शाखा जुदे,
　　तिमि द्रव्य लखो भ्रमको हरिके ॥ ४४ ॥

मनहरण ।

जसे वृच्छ अंशी ताके अंश बीज, अंकुरादि
　　तामें तीनों भेद भाव ऐसे लखि लीजिये ।
बीजको विनाश उतपाद होत अंकुरको,
　　वृच्छ ध्रुवताई ऐसी सरधा धरीजिये ॥
नूतन दरवको न होत उतपाद कहूँ,
　　यह तौ असंभौ कभी चितमें न दीजिये ।
दर्वकी स्वभावरूप परजाय पर्नतिमें,
　　तीनों दशा होत वृन्द याहीको पतीजिये ॥ ४५ ॥

(१०) गाथा-१०२ अब उत्पादादिका क्षण भेद खंडित करके यह समझाते हैं कि वह द्रव्य है।

काव्य ।

उतपत-व्यय-ध्रुव नाम सहित, जो भाव कहा है ।
दरव तासुतैं एकमेक ही, होय रहा है ॥
पुनि सो एकहि समय, त्रिविध परनवति अभेदं ।
तातैं त्रिविधसरूप, दरव निहचै निरवेदं ॥ ४६ ॥

दोहा ।

यहाँ प्रश्न कोई करत, उतपादादिक तीन ।
जुदे-जुदे समयनिविषैं, क्यों नहिं कहत प्रवीन ॥ ४७ ॥
तीन काज एकै समै, कैसे हो है सिद्ध ।
समाधान याको करौ, हे आचारज वृद्ध ॥ ४८ ॥
उतपादिकके पृथक, पृथक दरव जो होय ।
तब तो तीनों समयमें, तीन संभवै सोय ॥ ४९ ॥
जहां एक ही दरव है, तहँ इक समयमँझार ।
तीनों होते संभवत, दरवदिष्टिके द्वार ॥ ५० ॥

मनहरण ।

दर्वहीकी निज परजाय औ सु पर्नतितैं,
उतपाद-ध्रुव-व्यय दशा होत वरनी ।
दर्व दोनों रूप परिनवै आप आपहीमें,
ताहीकी अपेक्षा एकै समै तीनों करनी ॥
मृत्तिकातैं कुंभ जथा माटी ध्रुव दोनोंमाहिं,
द्रव्य द्वार एकै समै ऐसे उर धरनी ।

स्यादवादवानीकी अपेच्छासेती एकै समै,
ऐसे तीनों साधी हैं मिथ्यातकी कतरनी ॥५१॥

(११) गाथा–१०३ अब द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका अनेक द्रव्य–पर्यायके द्वारा विचार करते हैं।

काव्य।

दरवनिका परजाय, एक प्रगटत उदोत है।
वहुरि अन्य परजाय, दशा जहँ नाश होत है॥
तदपि दरव नहिं नसै, नहीं उपजै तहँ जानो।
सदा ध्रौव्य ही आपु रहै, निहचै परमानो॥५२॥

छप्पय।

संजोगिक परजाय, दोय परकार कहा है।
इक समान जातीय, दुतिय असमान गहा है॥
पुग्गलानु मिलि खंध, होत सोई समान है।
जिय पुदगल मिलि देह, सु तौ असमान मान है॥
इन परजैके उपजत नसत, दरव न उपजत नहिं नसत।
नित ध्रौव दशा निज धारिके, सदा एक रस ही लसत॥५३॥

(१२) गाथा–१०४ उनका एक द्रव्य-पर्यायके द्वारा विचार।

मनहरण।

दरव स्वयमेव ही सरब काल आपहीसों,
गुनसों गुनंतर प्रनवत रहत है।
सत्ततैं अभिन्न तात गुननिकी परजाय,
दर्वै ही है निश्चै एसे सुगुरु कहत है॥

जैसे आम हरित वरन गुण त्याग सोई,
पीत गुण आप ही सुभावसों लहत है ।
ध्रौवरूप आम दोउ दशामाहि वृन्दावन,
तैसे दर्व सदा त्रिधा लच्छन लहत है ॥ ५४ ॥

(१३) गाथा–१०५ सत्ता और द्रव्यमें पृथक्त्व नहीं ।

छप्पय ।

जो यह दरव न होय, आपु सत्ताको धारक ।
तौ तामें ध्रुवभाव, कहा आवै थितिकारक ॥
जो ध्रुवता नहिं धरै, कहो तब दरव होय किमि ।
तातैं सत्तारूप दरव, स्वयमेव आपु इमि ॥
है दरव गुनी सत्ता सुगुन, सदा एकता भाव धरि ।
परदेश भेद इनमें नहीं, यों भवि वृन्द प्रतीत करि ॥५५॥

(१४) गाथा–१०६ पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण ।

मनहरण ।

जहाँ परदेशकी जुदागीरूप भेद सो तौ,
प्रविभक्त जानौं जथा दंडी दंडवान है ।
संज्ञा लच्छनादितैं दरव सत्तामाहिं भेद,
वीरस्वामी ताको नाम अन्यत्व बखान है ॥
द्रव्यके अधार तो अनंत गुन तामें एक,
सत्ताहू बसत सु विशेषन प्रमान है ।
सत्तामाहिं नाहिं और गुनको निवास वृन्द,
ऐसे द्रव्य सत्तामें विभेद ठहरान है ॥५६॥

जैसे वस्त्र द्रव्य सेत गुनको धरै है आपु,
जदपि प्रदेश एक तदपि विभेद है ।
वस्त्रको तो बोध फरसादि इन्द्रीहूतैं होत,
पै सुपेद गुन नैन द्वारहीतैं वेद है ॥
तैं सुपेद गुन जुदो जो न मानै तौ,
फरस आदि इंद्री क्यों न जानत सुपेद है ।
। दर्व गुनमें हैं भेद संज्ञालच्छनतैं,
नाना भाँति साधै स्यादवादी ही अखेद है ॥ ५७ ॥

दोहा ।

ा दरवविषैं सुगुरु, ज्यों प्रदेश नहिं भेद ।
। स्वरूपहूके विषैं, कीजे भेद निखेद ॥ ५८ ॥

छप्पय ।

सत्ता दरवविषैं विभेद, कहु क्यों न मानियै ।
दरवविषैं गुनगन अनंत, थिति पृथक जानियै ॥
निजाधार है दरव, विविध परजायवंत है ।
गुनपरजै सब जुदे-जुदे, जामें वसंत है ॥
औ सत्ता दरवाधीन है, तासुमाहिं नहिं अपर गुन ।
है एक विशेषन दरवको, तातैं भेद अवश्य सुन ॥ ५६ ॥

(१५) गाथा-१०७ अतद्भावको उदाहरण द्वारा समझाते हैं ।

सत्ता तीन प्रकार सहित, विस्तार कहा है ।
दरवसत्त गुनसत्त, सत्त परजाय गहा है ॥
जो तीनोंके माहिं, परस्पर भेद विराजै ।
सोई है अन्यत्व भेद, इमि जिन धुनि गाजै ॥

है दरवसत्त गुन-परज-गत, गुनसत एक सुधरम-रत ।
परजायसत्त क्रमको धरै, यातैं भेद प्रमानियत ॥ ६० ॥

मनहरण ।

जैसे एक मोतीमाल तामें तीन भांत सेत,
[१]सेत हार सेत सूत सेतरूप [२]मनिया ।
तैसे एक दर्वमाहिं सत्ता तीन भांत सोहै,
दर्वसत्ता गुनसत्ता पर्जसत्ता भनिया ॥
दरवकी सत्ता है अनंत धर्म सर्वगत,
गुनकी है एक ही धरमरूप गनिया ।
परजकी सत्ता क्रमधारी ऐसी भेदाभेद,
साधी मुनि वृन्द श्रुतसिंधुके [३]मथनिया ॥ ६१ ॥

(१६) गाथा–१०८ सर्वथा अभाव अतद्भावका लक्षण नहीं है ।

दर्व जो है अनंत धरमको आधारभूत,
सो न गुन होत यों विचार उर रखिये ।
तथा जो है गुन एक धर्म निजरूप करि,
सोऊ दर्व नाहीं होत निहचै निरखिये ॥
ऐसे गुन-गुनीमें विभेद है सुरूप करि,
सर्वथा जुदागी न अभाव ही करखिये ।
द्रव्य और गुनमें विभेद विवहार तसो,
अनेकान्त पच्छसों विलच्छके हरखिये ॥ ६२ ॥

---

१ श्वेत–सफेद । २ गुरियां । ३ मथनेवाले ।

दोहा ।

दरव और गुनके विषैं, है अन्यत्वविभेद ।
जुदे दोउ नहिं सरवथा, श्रीगुरु करी निषेद ॥ ६३ ॥

मनहरन ।

गुन-गुनीमाहिं सरवथा ही अभावरूप,
　　भेद माने दोनोंहीको नाम सरवथा है ।
जातैं जेते गुन तेते जुदे-जुदे दर्व होई,
　　सोऊ वात संध नाहिं कहिवो विकथा है ।
गुनीके अभाव भयें गुनको अभाव होत,
　　सोनेमाहिं साखि देखो साधी साध जथा है ।
तातैं व्यवहारतैं कथंचित विभेद मानो,
　　वस्तुसिद्धिहेत श्रुतिमाहिं जथा सथा है ॥ ६४ ॥

(१७) गाथा—१०९ सत्ता और द्रव्यका गुण—गुणीत्व सिद्ध करते हैं ।

द्रव्यको सुभाव परिनाम जु है निश्चै करि,
　　अस्तित्व स्वरूप सोई सत्ता नाम गुन है ।
सर्व गुनमें प्रधान फहरै निशान जाको,
　　उतपादव्ययध्रुवसंजुत सुगुन है ।
ताही अस्तित्वरूप सत्तामें विराजै दर्व,
　　यातैं सत नाम द्रव्य पावत अपुन है ।
ऐसे सत्ता गुन औ दरव गुनी एकताई,
　　साखी कुन्दकुन्द वृन्द वन्दत निपुन है ॥ ६५ ॥

(१८) गाथा–११० गुण-गुणीके अनेकत्वका खंडन करते हैं।

कुण्डलिया।

ऐसो गुन कोऊ नहीं, दरव विना जो होय।
विना दरव परजाय हू, जगमें लख न कोय।।
जगमें लखै न कोय, बहुरि दिढ़तर ऐसे सुन।
दरवहिका अस्तित्वभाव; सोई सत्ता गुन।।
तिस कारन स्वयमेव, दरव सत्ता ही है सो।
अनेकांततैं सधत, वृन्द निरदूषन ऐसो।। ६६।।

(१९) गाथा–१११ द्रव्यके सत् उत्पाद, असत् उत्पाद होनेमें अविरोध सिद्ध करते हैं।

छप्पय।

या विधि सहजसुभावविषैं, जो दरव विराजै।
सो दरवौ परजाय, दोउ नयमय छबि छाजै।।
दरवार्थिकनय द्वार, सदा सदभावरूप है।
परजद्वारतैं असदभाव, सोई प्ररूप है।।
इन दो भावनिसंजुक्त नित, उतपत होत बखानिये।
नयद्वार विविच्छाभेद है, वस्तु अभेद प्रमानिये।। ६७।।

दोहा।

दो प्रकार उतपादजुत, दरव रहत सब काल।
सद उतपाद प्रथम कह्यो, दुतिय असतकी चाल।। ६८।।
दरव अनादि अनंत जो, निज परजेकेमांहि।
उपजत है सो दरवद्दग, सद उतपाद कहाहिं।। ६९।।

जो पूरव ही थो नहीं, ताको जो उतपाद ।
सो परजय-नयद्वारतैं, असदभाव निरवाद ॥ ७० ॥

(२०) गाथा-११२ सत् उत्पादको अनन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं ।

मनहरण ।

जीव दर्व आपने सुभाव प्रनवंत संत,
मानुष अमर वा अपर पर्ज धारैगो ।
तिन परजायनिसों नानारूप होय तऊ,
कहा तहाँ आपनी दरवशक्ति छाँरैगो ॥
जो न कहूं आपनी दरव शक्ति छाँड़ तब,
कैसे और रूप भयो निहचै विचारैगो ।
ऐसे दर्व शक्ति नानारूप परजाय व्यक्त,
जथारथ जाने वृन्द सोई आप तारैगो ॥ ७१ ॥

(२१) गाथा-११३ अब असत् उत्पादको अन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं ।

एक परजाय जिहिकाल परिनवै जीव,
तिहिकाल और परजायरूप नहीं है ।
मानुष परज परिनयौ तब देव तथा,
सिद्धपरजाय तहाँ कहां ठहराही है ॥
देव परजायमें: मनुषसिद्ध पज कहाँ,
ऐसे परजाय द्वार भेद बिलगाही है ।
या प्रकार एकता न आई तब कैसे नाहिं,
पजद्वार नाना नाम दरवलहाही है ॥ ७२ ॥

(२२) गाथा–११४ उसमें अविरोध ही है।

दर्वार्थिकनय नैन खोलकर देखिये तो,
सोई दर्व और रूप भयो नाहिं कबही।
फेर परजायनय नैन तैं निहारिये तो,
सोई नानारूप भयो जैसो पर्ज जब ही ॥
जातैं नर नारकादि काय जिहि काल लहै,
तासों तनमई होय रहै तैसो तबही।
जैसे आगि एक पै प्रवेश नाना ईंधनमें,
ईंधन अकारतैं भयौ है भेद सब ही ॥ ७३ ॥

(२३) गाथा–११५ सप्तभंगीसे ही सर्व विवाद–शांति।

छप्पय।

दरव कथंचित अस्तिरूप, राजै इमि जानो।
बहुर कथंचित नास्तिरूप, सोई परमानो ॥
होत सोई पुनि अवक्तव्य, ऐसे उर धरनी।
फिर काहू परकार सोइ, उभयातम बरनी ॥
पुनि और सुभंगनिकेविषैं, जथाजोग सोई दरव।
निरबाध बसत निजरूपजुत, श्रीगुरु भेद भने सरव ॥ ७४ ॥

मनहरण।

आपनी चतुष्टै दर्व–क्षेत्र–काल–भावकरि,
तिहूँकालमाहिं दरव अस्तित–सरूप है।
सोई परद्रव्य के चतुष्टै करि नास्ति सदा,
फेर सोई एकै काल उभैरूप भूप है ॥

एकै काल नाहिं जात कह्यो तातैं अकथ है,
　फेर सोई अस्ति अवक्तव्य सु अनूप है ।
फेर नास्ति अकथ औ अस्ति नास्ति अकथ है,
　कथंचित्वानी सो सुधारसको कूप है ॥ ७५ ॥

तथा चोक्तं देवागमकारिकायां—

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्व्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥ ९ ॥

कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निन्हवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्म्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत ॥ १० ॥

सर्व्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥

अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥

दोहा ।

एक अरथवाचक शबद, भावअस्ति ये जान ।
कहु अभाव के नास्ति कहु, दोनों अरथ समान ॥ ७६ ॥

जो पदार्थ सब सर्वथा, गहिये भावहिरूप ।
अरु अभाव सब लोपिये, तौ तित दूषनभूप ॥ ७७ ॥

एक दरव सरवातमक, तब निहचै ह्वै जाय ।
आदि अंत पुनि नहिं बनैं, कीजे कोटि उपाय ॥ ७८ ॥

ज्यों माटीमें पुव्व ही, कुंभ नहीं है रोप ।
प्रागभाव याको कहत, ताको ह्वै है लोप ॥ ७९ ॥

जो प्रध्वंसाभावको, लोप करै तव येह ।
कुंभकर्मको नाश नहिं, औ अनंतता लेह ॥ ८० ॥

जो अन्योन्य अभाव है, धरम दरवकेमाहिं ।
ताहि लोपते सब दरव, एक रूप ह्वै जाहिं ॥ ८१ ॥

जो अत्यंताभाव है, ताहि विलोपैं ठीक ।
दरव न कैस हु सधि सकै, दूपन लगै अधीक ॥ ८२ ॥

तातैं दरवह्निकेविपैं, बसै अभाव सुधर्म ।
वहां सहज सत्ताविपैं, थापैं थिर तजि भर्म ॥ ८३ ॥

धरम अभाव जु वस्तुमें, वसत सोइ सुन मीत ।
पर-सरूप नहिं होत है, यह दिढ़ करु परतीत ॥ ८४ ॥

जो अभाव ही सरवथा, माने तु समस्त ।
भाव धरमको लोपिके, जो सबमें परशस्त ॥ ८५ ॥

तौ ताके मतके विपैं, ज्ञान तथा सब वैन ।
अप्रमान सब ही भये, साधै वाधै केन ॥ ८६ ॥

इत्यादिक दूपन लगैं, तातैं हे भवि वृन्द ।
वस्तु अनंत धरममई, भापी श्रीजिनचन्द ॥ ८७ ॥

सो सब सातों भंगतैं, साधो भ्रमतम त्यागि ।
अनेकांत रसमें पगो, निज—सरूप अनुरागि ॥ ८८ ॥

(२४) गाथा—११६ वे पर्यायें बदलती रहती हैं।

मनहरण ।

ऐसी परजाय कोऊ नाहीं है जगतमें जो,
रागादि विभाव विना भई उतपन है ।

रागादि विभाव क्रिया अफल न होय कहूं,
याको फल चारों गतिमाहिं भरमन है ॥
जैसे परमानू रूछ चीकन सुभावहीसों,
बंध खंधमाहिं तैसे जानो जगजन है ।
जातैं वीतराग आतमीक पर्म धर्म सो तो,
बंधफलसों रहित तिहूँकाल धन है ॥ ८९ ॥

(२५) गा.—११७ मनुष्यादि पर्यायें जीवको क्रियाके फल

नाम कर्म आपनै सुभावसों चिदातमाके,
सहज सुभावको आच्छाद करि लेत है ।
नर तिरजंच [1]नरकौर देवगतिमाहिं,
नाना परकार काय सोई [2]निरमेत है ॥
जैसे दीप अगनिसुभावकरि तेलको सु—,
भाव दूर करिके प्रकाशित धरेत है ।
ज्ञानावरनादिकर्म जीवको सुभाव घाति,
मनुष्यादि परजाय तैसे ही [3]करेत है ॥ ९० ॥

(२६) गाथा—११८ जीवस्वभावका घात कैसे ?

नामकर्म निश्चै यह जीवको मनुष्य पशु.
नारकी सु देवरूप देहको बनावै है ।
तहां कर्मरूप उपयोग परिनवै जीव,
सहज सुभाव शुद्ध कहूँ न लहावै है ॥
जैसे जल नीम चंदनादि—माहिं गयौ सो
प्रदेश और स्वाद निज दोनों न गहावै है ।

---

१ नरक और । २ निर्माण करता है, बनाता है ३ करता है ।

तैसे कमभाव परिनयौ जीव अमूरत,
चिदानंद वीतराग भाव नाहिं पावै है ॥ ९१ ॥

(२७) गाथा–११९ द्रव्यरूपसे अवस्थितपना होने पर भी पर्यायसे अनवस्थितपना।

छप्पय।

इमि संसारमझार, दरवके द्वार जु देखा।
तौ कोऊ नहिं नसत, न उपजत यही विशेखा ॥
जो परजै उतपाद होत, सोई वय हो है।
उतपत वयकी दशा, विविध परजयमें सोहै ॥
ध्रुव दरव स्वांग बहु धारिके, गत गतमें नाचत विगत।
परजयअधार निरधार यह, दरव एक निजरस पगत ॥ ९२ ॥

(२८) गाथा–१२० अनवस्थितताका हेतु।

तिस कारन संसारमाहिं, थिर दशा न कोई।
अथिररूप परजैसुभाव, चहुंगतिमें होई ॥
दरवनिकी संसरन क्रिया, संसार कहावै।
एक दशाको त्यागि, दुतिय जो दशा गहावै ॥
या विधि अनादितैं जगतमें, तन धरि चेतन भमत है।
निज चिदानंद चिद्रूपके, ज्ञान भये दुख दमत है ॥ ९३ ॥

विशेषवर्णन–मनहरण।

ताहीतैं जगतमाहिं ऐसो कोऊ काय नाहिं,
जाको अवधारि जीव एक रूप रहैगो।
याको तो सुभाव है अथिररूप सदाहीको,
ऐसे सरधान धरै मिथ्यामत बहैगो ॥

जीवकी अशुद्ध परनतिरूप क्रिया होत,
ताको फल देह धारि चारों गति लहैगो ॥
याको नाम संसार वखाने सारथक जिन,
जाकी भवथिति घटी सोई [१]सरदहैगो ॥ ९४ ॥

(२९) गाथा—१२१ किस कारणसे संसारीको पुद्गलका संबंध होता है ?

अनादितैं पुग्गलीक कर्मसों मलीन जीव,
रागादि विकार भाव कर्मको लहत है ।
ताही परिनामनितैं पुग्गलीक दर्व कर्म,
आयके प्रदेशनिसों बंधन गहत है ॥
तातैं राग आदिक विकारभाव भावकर्म,
नयो दर्वकरमको कारन कहत है ।
ऐसो बंधभेद भेदज्ञानतैं विवेद वृन्द,
साधी है सिद्धांतमांहिं सुगुरु महत है ॥ ९५ ॥

प्रश्न—दोहा ।

दरव करमतैं भावमल, भाव करमतैं दव्व ।
यामैं पहिले कौन है, मोहि बतावो अव्व ॥ ९६ ॥
इतरेतर आश्रय यहां, आवत दोष प्रसंग ।
ताको उत्तर दीजिये, ज्यों होवै भ्रम भंग ॥ ९७ ॥

उत्तर ।

उत्तर सुनो ! अनादितैं, दरव करम करि जीय ।
है प्रबंध ताको सुगुरु, कारन पुव्व गहीय ॥ ९८ ॥

१. श्रद्धान करेगा ।

ताही पूरवबंध करि, होहि विभाव विकार ।
ताकरि नूतन बँधत है, यहाँ न दोष लगार ॥ ९९ ॥

जगदागमहूतैं यही, सिद्ध होत सुखधाम ।
जो ह्वै करम निमित्त विनु, रागादिक परिनाम ॥ १०० ॥

तो वह सहज सुभाव ह्वै, मिटै न कवहूं येव ।
तातैं दरवकरम निमित, प्रथम गही गुरुदेव ॥ १०१ ॥

दरवकरम पुद्गलमई, पुदगल करता तास ।
भावकरम आतम करै, यह निहचै परकास ॥ १०२ ॥

पुनः प्रश्न ।

तुम भाषत हौ हे सुगुरु, 'जीवकरमसंजोग' ।
सो क्या प्रथम पृथक हुते, पाछे भयो नियोग ॥ १०३ ॥

जासु नाम 'संजोग' है, ताको तो यह अर्थ ।
जुदी वस्तु मिलि एक ह्वै, कीजे अर्थ समर्थ ॥ १०४ ॥

उत्तर—मनहरन ।

जैसे तिलीमाहिं तैल आगि है पखानमाहिं,
छीरमाहिं नीर हेम खानिमें समल है ।
इन्हें जव कारनतैं जुदे होत देखें तव,
जानें जो मिलापहूमें जुदे ही जुगल है ॥
तैसेही अनादि पुग्गलीक दर्व करमसों,
जीवको संवंध लसै एक थल रल है ।
भेदज्ञान आदि शिव साधनतैं न्यारो होत,
ऐसे निरवाध संग सधत विमल है ॥ १०५ ॥

मतांतर । दोहा ।

केई मतवाले कहैं, प्रथम अमल थो जीव ।
माया जड़सों मलिन ह्वै, चहुँगति भमत सदीव ॥ १०६ ॥

प्रगट असंभव बात यह, शुद्ध अमल चिद्रूप ।
क्योंकरि बंध दशा लहै, परै केम भवकूप । १०७ ॥

विमलभाव तब बंधको, कारन भयो प्रतच्छ ।
मोच्छ अमलता तब कहो, कैसें सधै विलच्छ ॥ १०८ ॥

गाथा–१२२ अब परमार्थसे आत्माके द्रव्य कर्मका अकर्तृत्व । (३०)

मनहरण ।

परिनामरूप स्वयमेव आप आतमा है,
जातैं परिनाम परिनामीमें न भेद है ।
सोई परिनामरूप क्रिया जीवमयी होत,
आपनी क्रियातैं तनमयता अछेद है ॥
जीवकी जो क्रिया ताको भावकर्म नाम कह्यौ,
याको करतार जीव निहचै निवेद है ॥
तात दर्व करमको आतमा अकरता है ।
याको करतार पुदगल कर्म वेद है । १०९ ॥

प्रश्न–दोहा ।

भावकरम आतम करै, यह हम जानी ठीक ।
दरव करम अबको करै, यह संदेह अधीक ॥ ११० ॥

उत्तर—मनहरण ।

जैसे भाव कर्मको करैया जीव राजत है,
पुग्गल न ताको करै कभी यों पिछानियौ ।

निज निज भावके दरव सब करता हैं,
परके सुभावको न करै कोऊ मानियौ ॥
यह तो प्रतच्छ भेद ज्ञानतैं विलच्छ देखो,
सबै निज कारजके करता प्रमानियौ ।
दरव करम पुदगल पिंड तातैं याको,
करतार पुग्गल दरव सरधानियौ ॥ १११ ॥

(३१) गाथा–१२३ तीन प्रकारकी चेतना ।

सवैया (३१ मात्रा)

आतम निज चेतन सुभाव करि, प्रनवतु है निहचै निरधार ।
सो चेतनता तीन भाँति है, यों वरनी जिनचंद उदार ॥
ज्ञानचेतना प्रथम वखानी, दुतिय करमचेतना विचार ।
त्रितियकरमफलचेतनता है, वृन्दावन ऐसे उद्धार ॥ ११२ ॥

(३२) गाथा–१२४ उनका स्वरूप ।

मनहरण ।

जीवादिक सुपर पदारथको भेदजुत,
तदाकार एकै काल जानै जो प्रतच्छ है ।
सोई ज्ञानचेतना कहावत अमलरूप,
वृन्दावन तिहूँकाल विशद विलच्छ है ॥
जीवके विभावको अरंभ कर्मचेतना है,
दर्वकर्मद्वार जामें भेदनको गच्छ है ।
सुख-दुखरूप कर्मफल अनुभवै जीव,
कर्मफलचेतना सो भाषी श्रुति स्वच्छ है ॥ ११३ ॥

(३३) गाथा–१२५ ज्ञान, कर्म और कर्मफलका स्वरूप।

परिनाम आतमीक आप यह आतमा है,
　　सदा काल एकताई तासों तदाकार है।
सोई परिनाम ज्ञान कर्म कर्मफल तीनों,
　　चेतनता होनको समरथ उदार है॥
याही एकताईतें सुज्ञान कर्म कर्मफल,
　　तीनोंरूप आतमा ही जानो निरधार है।
अभेद विवच्छातैं दरवहीके अंतरनें,
　　भेद सबै लीन होत भाषी गनधार[1] है॥ ११४॥

(३४) गाथा–१२६ उसका ठीक निश्चयवाला होकर अन्यथा न परिणमन करे तो शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है।

करता [2]करन तथा करम करमफल,
　　चारोंरूप आतमा विराजै तिहूँपनमें।
ऐसे जिन निहचै कियो है भलीभाँतिकरि,
　　एकता सुभाव अनुभवै आपु मनमें॥
परदर्वरूप न प्रनवै काहू कालमाहिं,
　　लागी है लगन जाकी आतमीक धनमें।
सोई मुनि परम धरम शिवसुख लहै,
　　वृन्दावन कबहूँ न आवै भववनमें॥ ११५॥

---

१. गणधरदेवने। २. करण।

दोहा ।

भेदभाव जेते कहे, तेते वचनविलास ।
निरविकलप चिद्रूप है, गुन अनंतकी रास ॥ ११६ ॥

समल अमल दोनों दशा, तामैं आतम आप ।
चार भेदमय सुथिर है, देखो निजघट व्याप ॥ ११७ ॥

यों जब उर सरधा धरै, तजि परसों अनुराग ।
परममोखसुख तब लहै, चिदानंदरस पाग ॥ ११८ ॥

मनहरण ।

जैसे लाल फूलके उपाधसों फटिकमाहिं,
लालरूप लसत विशाल ताकी छटा है ।
तैसे ही अनादि पुदगल कर्मबंधके,
संजोगसों उपज्यौ जीवमाहिं राग ठटा है ॥
जबै उपाधीक रंग संगतैं नियारौ होत,
तबै शुद्ध जोति जगै फटै मोहघटा है ।
एक परनत परमानू ज्यों न बँधे त्यों ही,
रागादि विभाव विना बंधभाव कटा है ॥ ११९ ॥

छप्पय ।

जब यह आतम आप, भेदविज्ञान धार करि ।
निज सरूपकों लखै, सकल भ्रमभाव टार करि ॥
करता करम सुकर्म, कर्मफल चारभेदमय ।
चिदविलास ही समल, अमल दोउ दशामाहिं हय ॥
इमि जानि तब हि परवस्तुतैं, रागादिक ममता हरै ।
निज शुद्ध चेतनाभावमैं, सुथिर होय शिवतिय वरै ॥ १२० ॥

कवित्त। (३१ मात्रा)

इहि प्रकार निरदोष बतायो, शिवपुरको मग सुखद सदीव ।
ताहि त्यागि जो आन जतनसों, चाहत होन मूढ़ शिवपीव ॥
सो मूरख परधान जगतमें, तोस आश विपरीत अतीव ।
जीभ स्वादके कारन सो शठ, पानी मथिके चाहत घीव ॥ १२१ ॥

अधिकारान्तमंगल। मत्तगयन्द।

श्रीजिनचंद सुखाम्बुधिवर्द्धन, भव्यकुमोदप्रमोदक नीको ।
जन्मजरामृततापविनाशन, शासन है जनके हितहीको ॥
शुद्धपयोग निरोग सु भेपज, पोषनको समरत्थ अधीको ।
सो इत मंगल भूरि भरो प्रभु, वंदत वृन्द सदा तुमही को ॥ १२२ ॥

दोहा।

वंदों श्रीसरवज्ञपद, भ्रमतमभंजनभान ।
विघनहरन मंगलकरन, देत विमल कल्यान ॥ १२३ ॥
श्रीमत्प्रवचनसारकी, भाषाटीकामाहिं ।
दरवनिको सामान्यतः, कथन समाप्त कराहिं ॥ १२४ ॥

इतिश्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृतपरमागमश्रीप्रवचनसारजी ताकी वृन्दावनकृतभाषाविषें दरवनिका सामान्यवर्णनका अधिकार चौथा पूरा भया।

इहां ताईं सर्व गाथा १२७ एक सौ सत्ताईस भईं और भाषाके छंद सर्व ४६२ चारिसौ वासठ भये सो जयवंत होऊ। लिखी वृन्दावनने यही प्रथम प्रति है। मंगलमस्तु। श्रीरस्तु। मिती मार्गशीर्ष कृष्णा १३ ॥ गुरुवार संवत् १९०५ ॥ काशीजीमें, निज परोपकारार्थे। भूल चूक विशेपीजन शोधि शुद्ध कीजो ॥

अथ पंचमोविशेषज्ञेयतत्त्वाधिकारः ।

मंगलाचरण-दोहा ।

वंदों आतम जो त्रिविध, वर्जित कर्मविकार ।
नेत मेत ज्ञातृत्व जुत, सब विधि मंगलकार ॥ १ ॥

अब विशेपता दरवका, कथनरूप अधिकार ।
श्रीगुरु करत अरंभ सो, जैवंतो सुखकार ॥ २ ॥

(१) गाथा–१२७ द्रव्य विशेषोंके भेद ।

मनहरण ।

सत्तारूप दर्व दोय भांति है अनादि सिद्ध,
जीव औ अजीव यही साखी श्रुति मंथ है ।
तामें जीव लच्छन विलच्छन है चेतनता,
जासको प्रकाश अविनाशी पूंज पंथ है ॥
ताहीको प्रवाह ज्ञान दर्शनोपयोग दोय,
सामान्य विशेष वस्तु जानिवेतैं कंथ हैं ।
पुग्गलप्रमुख दर्व अजीव अचेतन हैं,
ऐसे वृन्द भाषी कुन्दकुन्द निरगंथ है ॥ ३ ॥

(२) गाथा–१२८ आकाश एक उसके दो भेद ।

छप्पय ।

जो नभको परदेश जीव, पुदगल समेत है ।
धर्माधर्म सु अस्तिकाय,–को जो निकेत है ॥
कालानूजुत पंच दरव, परिपूरन जामें ।
सोई लोकाकाश जानु, संशय नहिं यामें ॥

सब कालमाहिं सो अचल है, अवगाहन गुनको धरैं ।
तसु परे अलोकाकाश जहँ, पंच रंच नहि संचरैं ॥ ४ ॥

(३) गाथा-१२९ क्रियावती-भाववतीरूप द्रव्यके भाव हैं उनकी अपेक्षासे द्रव्यके भेद ।

दोहा ।

पुदगल अरु जीवातमक, जो यह लोकाकाश ।
ताके थिति उतपाद वय, परनति होत प्रकाश ॥ ५ ॥

भेद तथा संघाततैं, ज्यों श्रुति करत वखान ।
ताको उर सरधा धरो, त्यागो कुमत-वितान ॥ ६ ॥

मनहरण ।

क्रियावंत भाववंत ऐसे दोय भेदनितैं,
　　दर्वनिमें भेद दोय भापी भगवंत है ।
मिलि विछुरन हलचलन क्रिया है औ,
　　सुभाव परनति गहै सोई भाववंत है ॥
जीव पुदगलमाहिं दोनों पद पाइयत,
　　धर्माधर्म काल नभ भाव ही गहत है ।
धन्य धन्य केवलीके ज्ञानको प्रकाश वृन्द,
　　एकै वार सर्व सदा जामें झलकंत है ॥ ७ ॥

(४) गाथा-१३० अव यह वताते हैं कि-गुण-विशेष (गुणोंके भेद) से द्रव्योंका भेद ।

मनहरण ।

जीवाजीव दर्व जिन चिह्ननितैं भलिभांति,
　　चीहे जाने जाहिं सोई लच्छन बखाना है ।

सो है वह दर्वके सरूपकी विशेषताई,
जुदो कछु वस्तु नाहिं ऐसे परमाना है ।
मूरतीक दरवको लच्छन हू मूरतीक,
अमूरतिवंतनिको अमूरत बाना है ।
लच्छके जनायवेतैं लच्छन कहावै वृन्द,
प्रदेशतैं एकमेक सिद्ध ठहराना है ॥ ८ ॥

लक्षण यथा—दोहा ।

मिली परस्पर वस्तुको, जाकरि लखिये भिन्न ।
लच्छन ताहीको कहत, न्यायमती [१]परविन्न ॥ ९ ॥

जो सुकीय नित दरवके, है अधार निरबाध ।
सोई गुन कहलावई, वर्जित दोष उपाध ॥ १० ॥

तेई दरवनिके सुगुन, लच्छन नाम कहाहिं ।
जातैं तिनकरि जानियै, लच्छ दरव सब ठाहिं ॥ ११ ॥

भेद विवच्छातैं कहे, गुनी सुगुनमें भेद ।
वस्तु विचारत एक है, ज्ञानी लखत अखेद ॥ १२ ॥

(५) गाथा-१३१ मूर्त-अमूर्त गुण वे किन द्रव्योंमें हैं ।

छप्पय ।

मूरतीक गुनगन इंद्रिनिके, गहन जोग है ।
सो वह पुग्गल दरवमई, निहचै प्रयोग है ॥
वरन गंध रस फांस, आदि बहु भेद तासके ।
अब सुनि भेद अमूरत, दरवनिके प्रकाशके ॥

१ प्रवीण = चतुर ।

जो दरव अमूरतवंत है, तासु अमूरत गुन लसत ।
सो ज्ञान अतिंद्रीके विषैं, प्रतिबिंबित जुगपत बसत ॥ १३ ॥

(६) गाथा-१३२ मूर्त पुद्गल द्रव्यका गुण है।

मतगयन्द ।

पुग्गलदर्वविषैं गुन चार, सदा निरधार विराजि रहे हैं ।
वर्न तथा रस गंध [1]सपर्स, सुभाविक संग अभंग लहे हैं ॥
[2]पर्मअनू अति सूच्छिमतैं, पृथिवी परजंत समस्त गहे हैं ।
और जु शब्द सो पुग्गलकी, परजाय विचित्त अनित्त कहे हैं ॥

षट्प्रकार पुद्गल वर्णन-दोहा ।

षटप्रकार पुदगल कहे, सुनो तासुके भेद ।
जथा भनी सिद्धांतमें, संशयभाव विछेद ॥ १५ ॥

सूच्छिम सूच्छिम प्रथम है, सूच्छिम दूजो भेद ।
सूक्ष्मथूल तीजो कह्यौ, थूलसूक्ष्म है वेद[3] ॥ १६ ॥

थूल पंचमों जानिये, थूलथूल षट एम ।
अब इनको लच्छन सुनो, श्रुति मथि भाषत जेम ॥ १७ ॥

मनहरण ।

प्रथम विभेद परमानू परमान मान,
कारमानवर्गना द्वुतीय सरधान है ।
नैन नाहिं गहैं चार इंद्री जाहि गहैं सोई,
तीजो भद विषैके विवशतैं निदान है ॥

---

१ स्पर्श । २. परमाणु । ३. चौथा ।

चौथो भेद नैननैं निहारियै जु छायादि सो,
हस्तादिसों नाहिं गह्यौ जात परमान है ।
पांचमो त्रिभेद जल तेल मिलै छेदै भेदै,
छठो भूमि भूधरादि संधि न मिलान है ॥ १८ ॥

वर्णभेद–दोहा ।

अरुन पीत कारो हरो, सेत वरन ये पंच ।
इनके अंतरके विषैं, भेद अनंते संच ॥ १९ ॥

रसभेद ।

खाटा मीठा चिरपिरा, करुआ और कषाय ।
पांच भेद रसके कहे, तासु भेद बहु भाय ॥ २० ॥

गंधभेद ।

गंध दोय परकार है, प्रथम सुगंध पुनीत ।
दुतिय भेद दुरगंध है, यों समुझो उर मीत ॥ २१ ॥

स्पर्शभेद ।

तपत शीत हरुवो गरू, नग्म कठोर कहाय ।
रुच्छ चीकनो फरसके, आठ भेद दरसाय ॥ २२ ॥

प्रश्न–चौपाई ।

पुद्गलके गुन वरने जिते । इंद्रीगम्य कहे तुम तिते ॥
तहां होत शंका मनमाहिं । सुनिये कहों वेदकी छाहिं ॥ २३ ॥
परमानू अति सूच्छिम भना । कारमानकी पुनि वरगना ॥
तिनहूमें चारों गुन वसैं । क्यों नहिं इन्द्री ग्राहै तिसै ॥ २४ ॥

उत्तर-कवित्त (३१ मात्रा) ।

परमानू आदिक पुदगलको, इन्द्रीगम्य कहे रस हेत ।
जब वह खंध बंधमें ऐहै, शक्त व्यक्त करि सुगुन समेत ॥
तब सो इन्द्रीगम्य होइगो, व्यक्तरूप यों लखो सचेत ।
इन्द्रीनिके हैं विषय तासु गुन, तिसी अपेच्छा कथन कथेत ॥ २५ ॥

पुनः प्रश्न-दोहा ।

पुदगल मूरतिवंत जिमि, तीमि है शब्द प्रतीत ।
तौ पुदगलको गुन कहौ, परज कहौ मति मीत ॥ २६ ॥

उत्तर ।

गुनको लच्छन नित्त है, परज अनित्त प्रतच्छ ।
गुन होते तित शब्द नित, हावा करतो दच्छ ॥ २७ ॥
जो होतौ गुन तौ सुनो, अनू आदिके माहिं ।
सदा शब्द उपजत रहत, सो तौ लखियत नाहिं ॥ २८ ॥
खंधनिके व्याघाततैं, होत शबद परजाय ।
प्रथम भेद भाषामई, दुतिय अभाषा गाय ॥ २९ ॥

मनहरण ।

केई मतवाले कहैं शब्द गुन अकाशको,
तासों स्यादवादी कहै यह तो असंभौ है ।
आकाश अमूरतीक इन्द्रिनिके गम्य नाहिं
शब्द तो श्रवणसेती होत उपालंभौ है ।
कारन अमूरतको कारजहू तैसो होत,
यह तो सिद्धांत वृन्द ज्यों सुमेरु थंभौ है ।

सर्व ही अकाशतैं शवद सदा चाहियत,
गुनी गुन तजै कैसे बड़ो ही अचंभौ है ॥ ३० ॥

दोहा ।

तातैं शवद प्रतच्छ है, पुद्गलको परजाय ।
खंध जोगतैं उपजत, वरन अवरन सुभाय ॥ ३१ ।

प्रश्न—

पुद्गलकी पराजय तुम, शवद कही सो ठीक ।
श्रवन हि ताकों गहत है, यही सनातन लीक ॥ ३२ ।

और चार इन्द्रीनि करि, क्यों नहिं लखियै ताहि ।
मूरतीक तौ सव गहैं; थाको करो निवाह ॥ ३३ ॥

उत्तर—

पांचो इन्द्रिनिके विषय, जुदे कहे श्रुतिमाहिं ।
तहां न ऐसो नेम की, सव सव विषय गहाहिं ॥ ३४ ॥

नेम यही जानो प्रगट, निज-निज विषयनि अच्छ ।
गहन कराहिं नहिं अपरके, विषय गहहिं परतच्छ ॥ ३५ ॥

ताहीतैं वह श्रवनको, शवद विषय दिढ़ जान ।
श्रवन हि ताकों गहत है, और न गहत निदान ॥ ३६ ॥

प्रश्न—छप्पय ।

इहां प्रश्न कोउ करत, गंध गुन नीरमाहिं नहिं ।
ताहीतैं नाशिका नाहिं, संग्रहत तासुकहिं ॥

अगनि गंध रस रहित, घ्रान रसना नहिं गाहै।
पौनमें न दरसात, गंध रस रूप कहां है॥
ताहीतैं नाक—नयन—रसन, मालतको नहिं गहि सकत।
गुन होत गहहि निज निज विषय, यही अच्छकी रीति अत॥

उत्तर—दोहा।

पुग्गल दरव धरै सदा, फास रूप रस गंध।
सब परजायनिके विषै, परमानू लगि संध॥ ३८॥
कहूँ कोउ गुन मुख्य है, कहूँ कोउ गुन गौन।
चारनाहिं कमती नहीं, यह निहचै चितौन॥ ३९॥
एक परजमें जे अनू, प्रगटै हैं परधान।
दुतिय रूप सो परिनवहिं, देखत दृष्टि प्रमान॥ ४०॥
वरनोतैं वरनांतर, रसतैं पुनि रस और।
इत्यादिक प्रनवत रहत, जथाजोग सब ठौर॥ ४१॥

छप्पय।

चंद्रकांत पाषानकाय, पृथिवी पृथिवीतल।
श्रवत तासुतैं अंबु, गंधगुनरहित सुशीतल।
लखो वारितैं होत काय पुहमी मुक्ताफल।
अरणि दारुतैं अनल होत, जलतैं सु वायुबल॥
इत्यादि अनेक प्रकारको, प्रनवन बहुत विधान है।
तातैं सब परजैके विषैं, चारों गुन परधान है॥ ४२॥

दोहा।

तातैं पृथ्वी आदिके, पुग्गलमें नहिं भेद।
प्रनवननाहिं विभेद है, यों गुरु करी निवेद॥ ४३॥

सबहीमें .फरसादि गुन, चारों हैं निरधार ।
वृन्दावन सरधा धरो, सब संशय परिहार ॥ ४४ ॥

(७-८) गाथा-१३३-१३४ शेप अमूर्त द्रव्योंके गुण ।

मनहरण ।

एकै काल सरव दरवनिको थान दान,
कारन विशेष गुन राजत अकासमें ।
धरम दरवको गमन हेत कारन है,
जीव पुदगलके विचरन विलासमें ॥
अधरम दर्वको विशेष गुन थिति होत,
दोनों क्रियावंतनिके थित परकासमें ।
कालको सुभाव गुन वरतनाहेत कह्यो,
आतमाको गुन उपयोग प्रतिभासमें ॥ ४५ ॥

दोहा ।

ऐसे मूरतिरहितके, गुन संक्षेप भनंत ।
वृन्दावन तामें सदा, हैं गुन और अनंत ॥ ४६ ॥

जो गुन जासु सुभाव है, सो गुन ताहीमाहिं ।
औरनिके गुन औरमें, कबहूं व्यापैं नाहिं ॥ ४७ ॥

नभको तो उपकार है, पांचोंपर सुन मीत ।
धर्माधर्मनिको लसै, जिय पुदगलसों रीत ॥ ४८ ॥

काल सबनिपै करतु है, निज गुनतैं उपकार ।
नव जीरन परिनमनको, यातैं होत विचार ॥ ४९ ॥

जीव लखै जुगपत सकल, केवलदृष्टि पसार ।
याहीतैं सब वस्तुको, होत ज्ञान अविकार ॥ ५० ॥

(९) गाथा–१३५ प्रदेश-अप्रदेशत्व ।

जीवरु पुद्‌गल काय नभ, धरम अधरम तथेस ।
हैं असंख परदेशजुत, 'काल' रहित परदेस ॥ ५१ ॥

मनहरण ।

एक जीव दर्वके असंख परदेश कहे,
संकोच विथार जथा दीपकपै ढपना ।
पुग्गल प्रमान एक अप्रदेशी है तथापि,
मिलन शकतिसों बढ़ावै वंश अपना ॥
धर्माधर्म अखंड असंख परदेशी नभ,
सर्वगत अनंत प्रदेशी वृन्द जपना ।
कालानूमें मिलन शकतिको अभाव तातैं,
अप्रदेशी ऐसे जानैं मिटै ताप तपना ॥ ५२ ॥

(१०) गाथा–१२६ वे द्रव्य कहाँ रहते हैं ।

लोक औ अलोकमें आकाश ही दरव और,
धर्माधर्म जहां लगु पूरित सो लोक है ।
ताही विषैं जीव पुदगलको प्रतीत करो,
कालकी असंख जुदी अनूहूको थोक है ॥
समयादि परजाय जीव पुदगलहीके,
परिनामनिसों परगटत सुतोक है ।

कजरकी रेनुकरि भरी कजरौटी जथा,
तथा वृन्द लोकमें विराजै दर्वथोक है ॥ ५३ ॥

दोहा ।

धर्माधर्म दरव दोऊ, गति थितिके सहकार ।
ये दोनों जहँ लगु सोई, लोकसीम निरधार ॥ ५४ ॥

(११) गाथा–१३७ यह किस प्रकारसे संभव है?

दोहा ।

ज्यों नभके परदेश हैं, त्यों औरनिके मान ।
अपदेशी परमानु ते, होत प्रदेश प्रमान ।५५॥

मनहरण ।

एक परमानूके बराबर अकाश छेत्र,
ताहीको प्रदेश नाम ज्ञानी सिद्ध करी है ।
परमानु आप अपदेशी है सुभावहीतैं,
सूछिम न यातैं और ऐसी दिढ़तरी है ॥
ताही परदेशतैं अनंत परदेशी नभ,
धर्माधर्म एक जीव असंख प्रसरी है ।
ऐसे परदेशको प्रमान औ विधान कह्यौ,
स्वामी कुन्दकुन्द वृन्द बंदै मोह भरी है ॥ ५६ ॥

प्रश्न–दोहा ।

नभ पुनि धर्माधर्मके, कहे प्रदेश जितेक ।
सो तो हम सरधा करी, ये अखंड थिर टेक ॥ ५७ ॥

जीव अमूरत तन धरै, तासु असंख प्रदेश ।
सो कैसे करि संभवै, लघु दीरघ जसु भेस ॥ ५८ ॥

उत्तर ।

संकोचन अरु विस्तरन, दोइ शकति जियमाहिं ।
जहँ जैसे तनको धरै, तहँ तैसो ह्वै जाहि ॥ ५९ ॥

ज्यों दीपक परदेशकरि, जो कछु धरत प्रमान ।
लघु दीरघ ढकना ढकैं, तजत न अपनो वान ॥ ६० ॥

बालक वयतैं तरुन जब, होत प्रगट यह देह ।
बढ़त प्रदेश समेत तन, यामें कह संदेह ॥ ६१ ॥

थूल अंग रुज संगतैं, जासु कृशित ह्वै जात ।
तहँ प्रदेश संकोचता, विदित विलोको भ्रात ॥ ६२ ॥

(१२) गाथा—१३८ कालाणु अप्रदेशी ही है ।

मनहरण ।

कालानू दरव अप्रदेशी है असंख अनू,
　　मिलन सुभावके सरवथा अभावतैं ।
सो प्रदेश मात्र पुग्गलानूके निमित्तसेती,
　　समै पर्ज प्रगटिकै वर्तत वतावतैं ।
आकाशके एक परदेशतैं दुतीयपर,
　　जवै पुग्गलानु चलै मंदगति दावतैं ।
ऐसे निश्चै विवहारकालको सरूप भेद,
　　ज्ञानी जीव जानिके प्रतीत चित लावते ।। ६३ ।।

दोहा ।

लोकाकाश प्रदेश प्रति, कालानू परिपूर ।
हैं असंख निरवाध नित, मिलन शकतितैं दूर ॥ ६४ ॥

ताही एक प्रदेशतैं, जब पुद्‌गल परमानु ।
चलै मंदगति दुतियपर, तब सो समय बखान ॥ ६५ ॥

याही समय प्रमानकरि, है ध्रुव वय उतपाद ।
वरतमान सब दरवमें, विवहारिक मरजाद ॥ ६६ ॥

(१३) गाथा-१३९ उनके द्रव्य और पर्याय ।

मनहरण ।

एक कालअनूतैं दुतीय कालअनूपर,
जात जवैं पुग्गलानु मंदगति करिकै ।
तामें जो विलंब होत सोई काल दरवको,
समै नाम परजाय जानो भर्म हरिकै ॥
ताके पुव्व परे जो पदारथ हैं नितभूत,
सोई काल दरव है ध्रौव धर्म धरिकै ।
समय परजाय उतपाद वयरूप कहें,
ऐसे सरधान करो शंका परिहरिकै ॥ ६७ ॥

दोहा ।

जो अखंड ब्रह्मंडवत, काल दरवहू होत ।
समय नाम परजाय तब, कबहुं न होत उद्योत ॥ ६८ ॥

भिन्न-भिन्न कालानु जब, अमिल सु....भी होय ।
गनितरीतिगत कर्ममें, तब ही बनै बनोय ॥ ६९ ॥

इक कालानू छांडिकै, जब दुतीयपर जात ।
पुग्गलानु गति मंद करि, तब सो समय कहात ॥ ७० ॥

सो निरंश अति सूक्ष्म है, काल दरवकी पर्ज ।
याहीतैं क्रम चढ़ि बढ़त, सागरांत लगु सर्ज ॥ ७१ ॥

प्रश्न—

पुग्गलानु गति शीघ्र करि, चौदहराजू जात ।
समय एकमें हे सुगुरु, यह तो बात विख्यात ॥ ७२ ॥

तहां संपरसत कालके, अनु असंख मगमाहिं ।
याहूमें शंका नहीं, श्रेणीवद्ध रहाहिं ॥ ७३ ॥

पुव्वापरके भेदतैं, समयमाहिं तित भेद ।
असंख्यात क्यों नहि कहत, यामें कहा निषेद ॥ ७४ ॥

उत्तर—

जिमि प्रदेश आकाशको, परमानू परमान ।
अति सूच्छिम निरअंश है, मापन गज परधान ॥ ७५ ॥

ताहीमें नित बसत है, अनु अनंतको खंध ।
अंश अनंत न होत तसु, लहि तिनको सनबंध ॥ ७६ ॥

यह अवगाहन शकतिकी, है विशेषता रीत ।
तिमि तित गति परिनामकी, है विचित्रता मीत ॥ ७७ ॥

समय निरंश सरूप है, वीजभूत मरजाद ।
सरब दरव परवरतई, ध्रुव वय पुनि उतपाद ॥ ७८ ॥

(१४) गाथा–१४० आकाशके प्रदेशका लक्षण।

मनहरण ।

एक पुग्गलानु अविभागी जिते आकाशमें,
बैठे सोई अकाशको प्रदेश बखान है ।
ताही परदेशमाहिं और पंच द्रव्यनिके,
प्रदेशको थान दान देइवेको बान है ॥
तथा पर्म सूच्छिम प्रमानके अनंत खंध,
तेऊ ताही थानमें विराजैं थिति ठान है ।
निरबाध सर्व निज निज गुन पर्ज लिये,
ऐसी अवगाहनकी शकति प्रधान है ॥ ७९ ॥

प्रश्न—छन्द नराच ।

अकाश दर्व तो अखंड एकरूप राजई ।
सु तासुमें प्रदेश अंगभेद क्यों विराजई ॥
अखंड वस्तुमाहिं अंशकल्पना बनै नहीं ।
करै सुशिष्य प्रश्न ताहि श्रीगुरु कहैं यही ॥ ८० ॥

उत्तर—दोहा ।

निरविभाग इक वस्तुमें, अंश कल्पना होय ।
नय विवहार अधारतैं, लगै न बाधा कोय ॥ ८१ ।
निजकरकी दो आंगुरी, नभमें देखी उठाव ।
क्षेत्र दोउको एक है, कै दो जुदे बताव ॥ ८२ ॥
जो कहि है की एक है, तो कहु कौन अपेच्छ ।
एक अखंड अकाशकी, कै अंशनिके सेच्छ ॥ ८३ ॥

जो कहि है नभपच्छ गहि, तब तौ सांची बात ।
जो अंशनिकरि एक कहि, तब विरोध दरसात ॥ ८४ ॥

इक अगुरीके छेत्रसों, दूजेसों नहि मेल ।
अंश अपेच्छा इक कहें, यह [1]लरिकनिको खेल ॥ ८५ ॥

जुदे जुदे जो अंश कहि, नभ अखंडता त्याग ।
तौ प्रति अंश असंख नभ, चहियत तितौ विभाग ॥ ८६ ॥

तातैं नय विवहारतैं, अंश कथा उर आन ।
कारज विदित विलोकिकै, जिन आगम परमान ॥ ८७ ॥

(१५) गाथा–१४१ तिर्यक्प्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचय ।

मनहरण ।

काल विना बाकी पंच दर्वनिके परदेश,
ऐसे जैनवैनसों प्रतीति कीजियतु है ।
एक तथा दोय वा अनेक विधि संख्या लियें,
अथवा असंख तक चित दीजियतु है ॥
ताके आगे अनंत प्रदेश लगु भेद वृन्द,
जथाजोग सबमें विचार लीजियतु है ।
काल दर्व एक ही प्रदेशमात्र राजतु है,
ऐसो सरधान सुद्ध सुधा पीजियतु है ॥ ८८ ॥

अकाशके अनंत प्रदेश हैं अचल तैसे,
धर्माधर्म दोऊके असंख थिर थपा है ।

---

१. बालकोंका ।

एक जीव दर्वके असंख परदेश कहे,
सो तो घटैं वढ़ैं जथा देह दापैं ढपा है ॥
एक पुग्गलानु है प्रदेश मात्र दर्व तऊ,
मिलन सुभावसों वढ़ावै वंश [1]अपा है ।
संख्यासंख्य अनंत विभेद लगु ऐसें पंच,
दर्वके प्रदेशको अनादि नाप नपा है ॥ ८९ ॥

दोहा ।

जिनके बहुत प्रदेश हैं, तिर्यकप्रचई सोय ।
सो पांचों ही दरवमें, व्यापत हैं भ्रम खोय ॥ ९० ॥
कालानूमें मिलनकी, शकति नाहिं तिस हेत ।
तिर्यक [2]परचैके विषैं, गनती नाहिं करेत ॥ ९१ ॥
समयनिके समुदायको, [3]ऊरधपरचै नाम ।
सो यह सब दरवनिविषैं, व्यापत है अभिराम ॥ ९२ ॥
काल दरवके निमिततैं, ऊरधपरचै होत ।
ताहीतैं सब दरवको, परनत होत उदोत ॥ ९३ ॥
पंचनिके ऊरधप्रचय, काल दरवतैं जानु ।
कालमाहिं ऊरधप्रचय, निजाधार परमानु ॥ ९४ ॥
[4]तीरक-परचै पांचमें, निजप्रदेश सरवंग ।
निजाधीन धारै सदा, जथाजोग बहुरंग ॥ ९५ ॥

---

१. अपना । २. प्रचय-समूह । ३. ऊर्ध्वप्रचय ।
४. तिर्यक्प्रचय ।

(१६) गाथा—१४२ काल पदार्थका ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इसका खंडन।

माधवी।

जिस काल समैकहँ एक समै,—
महँ वै उतपाद विराजि रहा है।
तव हू वह आपु सुभावविषै,
समवस्थित है ध्रुवरूप गहा है॥
परजाय समै उपजै विनशै,
अनु पुग्गलकी गति रीति [1]जहा है।
यह लच्छन काल पदारथको,
सुविलच्छन श्रीगुरुदेव कहा है॥ ९६॥

दोहा।

कालदरवको क्यों कहो, उपजनविनशनरूप।
समय परजहीकों कहो, वयउतपादसरूप॥ ९७॥

और दरवको छांड़िके एकै समयमँझार।
उतपत ध्रुव वय सधत नहिं, कीजै कोट विचार॥ ९८॥

उतपत अरु वयके विषैं, राजत विदित विरोध।
अंधकार परकाशवत, देखो निज घट शोध॥ ९९॥

तातैं कालानू दरव, औत्र गहोगे जत्र।
निरावाध एकै समय, तीनों सधि हैं तत्र॥ १००॥

---

१. यथा।

छप्पय ।

जब पुग्गल परमानु, पुव्वकालानु त्याग करि ।
अगिलीपर वह गमन करत, गति मंद तासु धरि ॥
समय कहावत सोय, तहां आधार दरव गहु ।
तब तीनों निरवाध सधैं, इक समयमांहिं वहु ॥
लखि निजकर अंगुरी वक्र करि, एक समय तीनों दिखैं ।
उतपाद वक्र वय सरलता, ध्रुव अँगुरी दोनों विखैं ॥ १०१ ॥

(१७) गाथा–१४३ प्रत्येक समयमें कालपदार्थ उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है ।

मनहरण ।

एकही समैमें उतपाद ध्रुव वये नाम,
ऐसे तीनों अर्थनिको काल दर्व धारै है ।
निश्चैकरि यही सदभावरूप सत्ता लिये,
निजाधीन निरावाध वर्तत उचारै है ॥
जैसे एक समैमें त्रिभेदरूप राजत है,
तैसे सर्वकाल सर्व कालानू पसारै है ।
समै परजाय उतपाद वयरूप राजै,
दर्वकी अपेच्छा ध्रुव धरम उदारै है ॥ १०२ ॥

(१८) गाथा–१४४ प्रत्येक कालाणु द्रव्यका एक प्रदेशमात्रपना ।

वस्तुको सरूप असतित्वको निवासभूत,
सत्ता रसकूपको अधार परदेस है ।

ऐसो परदेस जाके येको नाहिं पाइये तो,
　　विना परदेस कहो कैसो ताको भेस है ।
सो तो परतच्छ ही अवस्तु शून्यरूप भयो,
　　कैसे करि जाने ताके सामान्य विशेस है ।
अस्तिरूप वस्तुहीके होत उतपाद वय,
　　गुन परजायमाहिं ऐसो उपदेस है ॥ १०३ ॥

दोहा ।

जो प्रदेशतैं रहित है, सो तो भयो अवस्त ।
ताके धुव उतपाद वय, लोपित होत समस्त ॥ १०४ ॥
तातैं काल दरव गहो, अनुप्रदेश परमान ।
तव तामें तीनों सधैं निरावाध परधान ॥ १०५ ॥

मनहरण ।

केई कहैं समय परजायहीको दर्व कहो,
　　प्रदेशप्रमान कालअनू कहा करसै ।
समै ही अनादितैं निरंतर अनेक अंश,
　　परजायसेती उतपाद—पद परसै ॥
तामें पुव्वको विनाश उत्तरको उतपाद,
　　पर्जपरंपरा सोई ध्रौव धारा वरसै ।
ऐसे तीनों भेद भले सधे परजायहीमें,
　　तासों स्यादवादी कहै यामें दोष दरसै ॥ १०६ ॥

गीता ।

जिस समयका है नाश तिसका, तो सरवथा नाश है ।
जिस समयका उतपाद सो, भी सुतह विनशत जात है ।

ध्रुव कौन इनमें है जिसे, आधार धरि होवैं यही ।
यों कहत छिनछायी दरवमें, दोष लागैंगो सही ॥१०७॥

दोहा ।

तातैं कालानू दरव, औरु गहोगे जब्ब ।
निराबाध एकै समय, तीनों सधि हैं तब्ब ॥१०८॥

मदावलिप्तकपोल ।

काल दरवमें जो प्रदेशको थापन कीना ।
तो असंख कालानु, भिन्न मति कहो प्रवीना ॥
कहो अखंडप्रदेश, लोकपरमान तासु कहँ ।
ताहीतैं उतपन्न समय, परजाय कहो तहँ ॥१०९॥

मनहरण ।

कालको अखंड मानें समय नाहिं सिद्ध होत,
समय परजाय तो तब ही उपजत है ।
जबै कालअनू भिन्न भिन्न होंहिं सुभावतैं,
तहां पुग्गलानू जब चलै मंदगत है ॥
एकको उलंघि जब दूजे कालअनूपर,
तामें जो विलंब लगै सोई समै जत है ।
अखंडप्रदेशी मानें कैसे गतिरीति गनै,
कैसे करै कालको प्रमान कहु सत है ॥११०॥

दोहा ।

तातैं कालानू दरव, भिन्न गहोगे जब्ब ।
निराबाध एकै समय, तीनों सधि हैं तब्ब ॥१११॥

काल अखंडित मानतैं, समय भेद मिटि जाय ।
तथा सरव परदेशतैं, जगे समय परजाय ॥११२॥
तथा कालके है नहीं, तिर्यक–परचै रूप ।
एक यहू दूषन लगै, यों भाषी जिनभूप ॥११३॥
काल असंख अनून्हको, सुनो वरतना भेद ।
प्रथमहिं एक प्रदेशतैं, वरततु है निरखेद ॥११४॥
पुनि तसु आगेकी अनू, तिनसों वर्तत सोय ।
पुनि तसु आगे और सो, वर्तत है अनु जोय ॥११५॥
असंख्यात अनु-रूपकरि, ऐसे वरतत निच ।
काल दरवकी वरतना, यों जिन भाषी मिच ॥११६।
याके ऊरध ऊरधे, होहि समय परजाय ।
सब दरवनिपर करत है, वर्त्तनमाहिं सहाय ॥११७।

कवित्त (३१ मात्रा)

तातैं तत्त्वारथके मरमी, तिनको प्रथमहिं यह उपदेश ।
कालदरव परदेशमात्र है, ध्रौवप्रमान रूप तसु भेश ॥
निचभूत निरवाध असंखा, अनु अनमिलन सुभाव हमेश ।
ताहीकी परजाय समय है, यों भाषी सरवज्ञ जिनेश ।११८॥

दोहा ।

मंगलमूल जिनिंदको, वंदों वारंवार ।
जसु प्रसाद पूरन भयो, बड़ो ज्ञेयअधिकार ॥११९।

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्रीप्रवचनसारजी ताकी वृन्दावनकृतभाषाविषैं विशेषज्ञेयाधिकार नामा पांचमा अधिकार पूरा भया ।

इहां ताईं सर्व गाथा १४६ और भाषाके छंद सर्व ५८१ पांचसौ इक्यासी भये. सो समस्त जयवंत होहु। मिती मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी ६ शुक्रवारे संवत् १९०५। काशीजीमें वृन्दावनने लिखो मूल प्रति। सो जयवंत होहु।

ओं नमः सिद्धेभ्यः

अथ षष्ठ ज्ञेयतत्त्वान्तर्गत-व्यावहारिक-जीवद्रव्याधिकारः

मंगलाचरण—दोहा।

श्रीमत तीरथनाथ नमि, सुमरि सारदा [1]संत।
जीवदरवको लिखत हों, विवहारिक विरतंत ॥ १ ॥

(१) गाथा—१४५ व्यवहार जीवत्वका हेतु।

मनहरण।

सहित प्रदेश सर्व दर्व जामें पूरि रहे,
ऐसो जो अकाश सो तो अनादि अनंत है।
[2]नित्त नूतन निराबाध अकृत अमिट,
अनवच्छित सुभाव सिद्ध सर्वगतिवंत है॥
तिस षटदर्वजुत लोकको जो जानत है,
सोई जीवदर्व जानो चेतनामहंत है।
वही चार प्रानजुत जगतमें राजै वृन्द,
अनादि संबंध पुग्गलको धरंत है ॥ २ ॥

---

१ साधु-मुनि। २ नित्य-अविनाशी।

दोहा ।

पंच दरव सब ज्ञेय हैं, ज्ञाता आतमराम ।
सो अनादि चहु प्रान जुत, जगमें कियो [1]मुक़ाम ।। ३ ।।

(२) गाथा–१४६ प्राण ।

इन्द्रीबल तिमि आयु पुनि, सासउसासरु प्रान ।
जीवनिके संसारमें, होहिं सदीव प्रमान ।। ४ ।।

छप्पय ।

[2]फास जीभ नासिका, नैन श्रुति पंच [3]अच्छ गहु ।
काय वचन मन सु बल, तीन परतीति मान यहु ।।
आयु चार गति थिति, तथैव सासोउसास गनि ।
ये दशहूं विवहार-प्रान, जग जीवनिके भनि ।।
निहचैकरि सुख सत्ता तथा, अवबोधन चैतन्नता ।
यह चार प्रान धारैं सदा, सहज सुभाव अभिन्नता ।। ५ ।।

(३) गाथा–१४७ प्राणोंको जीवत्वका हेतुत्व और पौद्गलित्व ।

मत्तगयन्द ।

जो जगमें निहचै करिके, धरि चार प्रकारके प्रान प्रधानो ।
जीवतु है पुनि जीवत थौ, अरु आगे हु पै वही जीवे निदानो ।
सो वह जीव पदारथ है, चिनमूरति आनंदकंद सयानो ।
औ [4]चहु प्रान कहे वह तो, उपजे सब पुग्गलतैं परमानो ।।६।।

१ स्थिति । २ स्पर्श । ३ अक्ष–इन्द्रियां । ४. चउ–चार ।

(४) गाथा–१४८ उनकी सिद्धि

मनहरण ।

अनादितैं पुग्गल प्रसंगसों चिदंगजूके,
चढ्यो है कुढंग मोह रंग सरवंग है ।
ताही कर्मबंधसों निबद्ध चार प्राननिसों,
कर्मनिको उदैफल भोगै बहुरंग है ॥
तहां और नूतन करमको प्रबंध बधै,
जातैं मोह रागादि कुभावको तरंग है ।
ऐसे पुग्गलीक कर्म उदै जगजीवनिके,
पुग्गलीक कर्मबंध उदैको प्रसंग है ॥ ७ ॥

दोहा ।

कारनके सादृश जगत, कारज होत प्रमान ।
तातैं पुदगल करमकरि, पुदगल बँधत निदान ॥ ८ ॥

(५) गाथा–१४९ उसे पौद्गलिक कर्मका कारणत्व ।

द्रुमिला ।

जगजीव निरंतर मोहरु दोष, कुभाव विकारनिको करिकै ।
परजीवनिके चहु प्राननिको, [१]विनिपात करैं [२]अदया धरिकै ॥
तबही निहचै दृढ़ कर्मनिसों, प्रतिबंधित होहिं मुधा भरिकै ।
जसु भेद हैं [३]ज्ञान–अवर्नको आदिक, यों लखिये भ्रमको हरिकै ॥९॥

दोहा ।

मोहादिककरि आपनो, करत अमलगुन घात ।
ता पीछे परप्रानको, करत मूढ़ विनिपात ॥ १० ॥

---

१. घात—नाश । २. निर्दयता—कठोरता । ३. ज्ञानावरणादि ।

परप्राननिको घात तौ, होहु तथा मति होहु ।
पै निज ज्ञान-प्रान तिन, निहचै घाते सोहु ॥ ११ ॥
तव ज्ञानावरनादि तहँ, बँधैं करम दिढ़ आय ।
प्रकृति प्रदेशनुभाग थिति, जथाजोग समुदाय ॥ १२ ॥

(६) गाथा–१५० प्राणोंकी संततिकी प्रवृत्तिका अंतरंग हेतु ।

मत्तगयन्द ।

कर्म महामलसों जगमें, जगजीव मलीन रहै तब ताईं ।
चार प्रकारके प्राननिको, वह धारत बार हि बार तहांई ॥
जावत देह प्रधानविषैं, ममता-मतिको नहिं त्याग कराई ।
या विधि बंधविधान कथा, गुरुदेव जथारथ वृन्द बताई ॥१३॥

दोहा ।

[१]जावत ममता भाव है, देहादिकके माहिं ।
[२]तावत चार सुपान धरि, जगतमांहि भरमाहिं ॥ १४ ॥
तातैं ममताभावको, करो सरवथा त्याग ।
निज समतारसरंगमें, वृन्दावन अनुराग ॥ १५ ॥

(७) गाथा–१५१ उनकी निवृत्तिका अंतरंग हेतु ।

मतगयन्द ।

जो भवि इन्द्रियआदि विजैकरि, ध्यावत शुद्धपयोग अभंगा ।
कर्मनिसों तजि राग रहै, निरलेप जथा जल [३]कंज प्रसंगा ॥
[४]झांक-विहीन जथा फटिकप्रभ, त्यों उर जोतकी वृन्द तरंगा ।
क्यों मल प्रान बँधै वह तो, नित न्हात विशुद्ध सुभाविक गंगा ॥१६॥

---

१. यावत्–जब तक । २. तावत्–जब तक । ३. कमल ।
४. छायारहित ।

माधवी ।

अपने असतित्व सुभावविषैं, नित निश्चयरूप पदारथ जो है ।
चिनमूरत आप अमूरत जीव, असंख प्रदेश धरै वह तो है ॥
तिसके पर पुग्गलके परसंगतैं, सो परजाय अनेकनि हो है ।
जसु [1]संहननौर अकार अनेक, प्रकार विभेद सुवेद भनो है ॥१७॥

(८) गाथा–१५२ आत्माकी अत्यंत भिन्नता सिद्ध करनेके लिये व्यवहार जीवत्वकी हेतुभूत मनुष्यादि पर्यायोंका स्वरूप।

मनहरण ।

संसार अवस्थामाहिं जीवनिके निश्चैकरि,
पुग्गलविपाकी नामकर्म उदै आयेतैं ।
नर [2]नारकौर तिरजंच देवगति विषैं,
जथाजोग देह बनै परजाय पायेतैं ॥
संसथान संहनन आदि बहु भेद जाके,
पुग्गलदरवकरि रचित बतायेतैं ।
जैसें एक आगि है अनेक रूप ईंधनतैं,
नानाकार तैसे तहां चेतन सुभायेतैं ॥१८॥

(९) गाथा–१५३ अब पर्यायके भेद ।

मत्तगयन्द ।

जे भवि भेदविज्ञान धरैं, सब दर्वनिको जुत भेद सुजानै ।
जे अपनो सदभाव धरैं, निज भावविषैं थिर हैं परधानै ॥
द्रव्य गुनौ परजायमई, तिनको ध्रुव [3]वै उतपाद पिछानै ।
सो परदर्वविषैं कबहूँ नहिं, मोहित होत सुबुद्धिनिधानै ॥१९॥

१. संहनन–और । २. नारक+और । ३. व्यय–नाश ।

मनहरण ।

जानै काललब्ध पाय दर्श मोहको खिपाय,
　　उपशमवाय वा सुश्रद्धा यों लहाही है ।
मेरो चिदानंदको दरव गुन परजाय,
　　उतपाद वय ध्रुव सदा मेरे पाहीं है ॥
और परदर्व सर्व निज निज सत्ताहीमें,
　　कोऊ दर्व काहूको सुभाव न गहाही है ।
तातैं जो प्रगट यह देह [1]खेह-खान दीसै,
　　सो तो मेरो रूप कहूं नाहीं नाहीं नाहीं है ।२०॥

(१०) गाथा—१५४ अब आत्माकी अन्य द्रव्यके साथ संयुक्तता होनेपर भी अर्थ निश्चायक अस्तित्वके स्व-पर विभागके हेतु रूपमें समझाते हैं ।

द्रुमिला ।

उपयोगसरूप चिदातम सो, उपयोग [2]दुधा छवि छाजत है ।
नित जानन देखन भेद लिये, सो शुभाशुभ होय विराजत है ॥
तिनही करि कर्मप्रबंध बंधै, इमि श्रीजिनकी धुनि गाजत है ।
जब आपमें आपुहि राजत है, तब [3]श्यौपुर नौबत बाजत है ॥२१॥

(११) गाथा—१५५-१५६ आत्माको अत्यन्त विभक्त करनेके लिये परद्रव्यके संयोगके कारणका स्वरूप कहते हैं ।

मनहरण ।

जब इस आतमाके पूजा दान शील तप,
　　संजम क्रियादिरूप शुभ उपयोग है ।

---

१. मलकी खानि ।　२. द्विधा—दो प्रकार ।　३. शिवपुर—मोक्ष ।

तब शुभ आयु नाम गोत पुन्यवर्गनाको,
कर्मपिंड बँधै यह सहज नियोग है ॥
अथवा मिथ्यातविषैं अव्रत कषायरूप,
अशुभोपयोग भये पापको संजोग है ।
दोऊके अभावतैं विशुद्ध उपयोग वृन्द,
तहां बंध खंडके अखंड सुख भोग है ॥ २२ ॥

(१२) गाथा–१५७ शुभोपयोगका कथन ।

मतगयन्द ।

जो जन श्री जिनदेवको जानत, प्रीतिसों वृन्द तहाँ लव लावै ।
सिद्धनिको निज ज्ञानतैं देखिकै, ध्यापक होयके ध्यानमें ध्यावै ॥
ओ [1]अनगार गुरूनिमें भक्ति, दया सब जीवनिमाहिं दिढ़ावै ।
ताकहँ श्रीगुरुदेव बखानत, सो [2]शुभरूपपयोग कहावै ॥ २३ ॥

(१३) गाथा–१५८ अशुभोपयोग ।

मनहरण ।

इंद्रिनिके विषै और क्रोधादि कषायनिमें,
जाको परिनाम अवगाढ़ागाढ़ रुखिया ।
मिथ्याशास्त्र सुनै सदा चित्तमें कुभाव गुनै,
दुष्ट संग रंगको उमंग रस चुखिया ॥
जीवनिके घातवेको जतन करत नित,
कुमारग चलिवेमें उग्रमुख मुखिया ।
ऐसो उपयोग सोई अशुभ कहावत है,
जाके उरवसै वह कैसे होय सुखिया ॥ २४ ॥

---

१. दिगम्बर । २. शुभोपयोग ।

(१४) गाथा—१५९ अशुद्धोपयोग (शुभ-अशुभ) जो कि परद्रव्यके संयोगके कारण हैं, उनके विनाशका अभ्यास बताते हैं।

मत्तगयन्द।

मैं निज ज्ञानसरूप चिदातम, ताहि सुध्यावत हौं भ्रम टारी।
भाव शुभाशुभ बंधके करन, तातैं तिन्हैं तजि दीनों विचारी॥
होय मधस्थ विराजत हौं, परदर्वं विषैं ममता परिहारी।
सो सुख क्यों मुखसों बरनौं, जो चखै सो लखै यह बात हमारी॥२५॥

दोहा।

तातैं यह उपदेश अब, सुनो भविक बुधिवान।
[1]उद्दिम करि जिन वचन सुनि, ल्यो निजरूप पिछान॥२६॥
ताहीको अनुभव करो, तजि प्रमाद उनमाद।
देखो तो तिहि अनुभवत, कैसो उपजत स्वाद॥२७॥
जाके स्वादत ही तुम्हें, मिलै अतुल सुख पर्म।
पुनि शिवपुरमें जाहुगे, परिहरि अरि वसु कर्म॥२८॥
यही शुद्ध उपयोग है, जीवन—मोच्छसरूप।
यही मोखमग धर्म यहि, यहि शुद्धचिद्रूप॥२९॥

(१५) गाथा—१६० शरीरादि परद्रव्यके प्रति भी मध्यस्थता।

मनहरण।

मैं जो हौं शुद्ध चिनमूरत दरव सो,
त्रिकालमें त्रिजोगरूप भयो नाहिं कबही।

---

१. उद्यम।

तन मन [1]बैन ये प्रगट पुद्गल यातैं,
मैं तो याको कारन हू बन्यौ नाहिं तब ही ॥
तथा करतार औ करावनहूहार नाहिं,
करताको अनुमोदक हू नाहिं जब ही ।
ये अनादि पुग्गलकरमहीतैं होते आये,
ऐसी वृन्द जानी जिनवानी सुनी अब ही ॥३०॥

(१६) गाथा–१६१ तन-वचन-मनका भी पुद्गलत्व ।

तन मन वचन त्रिजोग है, पुद्गलदरवसरूप ।
ऐसें दयानिधान वर, दरसाई जिनभूप ॥ ३१ ॥
सो वह पुदगल दरवके, अविभागी परमानु ।
तासु खंधको पिंड है, यों निहचै उर आनु ॥ ३२ ॥

(१७) गाथा–१६२ आत्माके परका तथा परके कर्तृत्वका अभाव ।

मनहरण ।

मैं जो हौं विशुद्ध चेतनत्वगुनधारी सो तो,
पुग्गल दरवरूप कभी नाहिं भासतो ।
तथा देह पुग्गलको पिंड है [2]सुखंध बंध,
सोउ मैंने कीनों नाहिं निहचै प्रकासतो ॥
ये तो हैं अचेतन औ मूरतीक जड़ दर्व,
मेरो चिच्चमतकार जोत है चकासतो ।
तातैं मैं शरीर नाहिं करता हू ताको नाहिं,
मैं तो चिदानंद वृन्द अमूरत सासतो ॥३३॥

१. वचन । २. स्कंध–परमाणुओंका समूह ।

(१८) गाथा–१६३ परमाणुओं मिलकर पिंडरूप पर्याय।

अप्रदेशी अनू परदेशपरमान दर्वे,
सो तो स्वयमेव शब्द–[1]परजरहत है।
तामैं चिकनाई वा रुखाई परिनाम बसै,
सोई बंध जोग भाव तासमें कहत है॥
ताहीसेती दोय आदि अनेक प्रदेशनिकी,
दशाको बढ़ावत सुपावत महत है।
ऐसे पुदगलको सुपिंडरूप खंध बँधै,
यासों चिदानंदकंद जुदोई लहत है॥२४॥

दोहा।

अविभागी परमानु वह, शुद्ध दरव है सोय।
वरनादिक गुन पंच तो, सदा धरैं ही होय॥२५॥
एक वरन इक गंध इक, रस दो [2]फासमँझार।
अंतर भेदनिमें धरे, श्रुति लखि लेहु विचार॥२६॥

(१९) गाथा–१६४ परमाणुके स्निग्ध–रूक्षत्व कैसा।

मनहरण।

[3]पुग्गलअनूमें चिकनाई वा रुखाई भाव,
एक अंशतैं लगाय भाषे भेदरास है।
एकै एक बढ़त अनंत लौं विभेद बढ़ै,
जातैं परिनामकी शकति ताके पास है॥
जैसे छेरी गाय भैंस ऊंटनीके दूध घृत,
तामें चिकनाई वृद्धि क्रमतैं प्रकास है।

---

१. पर्याय–रहित। २. स्पर्शमें। ३. पुद्गलाणुमें।

धूलि [1]राख रेतकी रुखाईमें विभेद जैसे,
तैसे दोनों भावमें अनंत भेद भास है ॥३७॥

(२०) गाथा–१६५ स्निग्धत्व, रूक्षत्वसे पिंडता कारण।

मनहरण।

पुग्गलकी अनू चीकनाई वा रुखाईरूप,
आपने सुभाव परिनाम होय [2]परनी।
अंशनिकी संख्या तामें सम वा विषम होय,
दोय अंश बाढ़हीसों बंधजोग वरनी॥
एक अंश घटे बढ़े बँधत कदापि नाहिं,
ऐसो नेम निहचै प्रतीति उर धरनी।
चीकन रुखाई अनुखंध हू बँधत ऐसे,
आगमप्रमानतैं प्रमान वृन्द करनी॥३८॥

दोहा।

दोय चार षट आठ दश, इत्यादिक सम जान।
तीन पांच पुनि सात नव, यह क्रम विषम बखान॥३९॥
चीकनताईकी अनू, सम अंशनि परमान।
दोय अधिक होतें बंधै, यह प्रतीत उर आन॥४०॥
[3]रुच्छ भावकी जे अनू, ते विषमंश प्रधान।
दोय अधिकतें बँधत हैं, ऐसें लखो सयान॥४१॥
अथवा चीकन रूक्षको, बंध परस्पर होय।
दोय अंशकी अधिकता, जोग मिलै जब सोय॥४२॥

---

१. भस्म। २. परिणमन किया, परिनमी। ३. रूक्ष।

एक अनू इक अंशजुत, दुतिय तीनजुत होय ।
जदपि जोग है बंधके, तदपि बंधै नहिं सोय ।४३॥
एक अंश अति जघन है, सो नाहिं बंधे कदाप ।
नेमरूप यह कथन है, श्रीजिन भाषी आप ॥४४।

(२१) गाथा–१६६ वही नियम ।

मनहरण ।

चीकन सुभाव दोय अंश परनई अनू,
ताको बंध चार अंशवालीहीसों होत है ।
और जो रुखाई तीन अंश अनू धारे होय,
पंच अंशवालीसेती वाको बंध होत है ॥
ऐसे ही अनंत लगु भेद सम विषमके,
दोय अंश अधिकतैं बंधको उदोत है ।
रुच्छचीकनीहू बँधै खंधहूसों खंध बँधै,
याही रीतिसेती लखैं ज्ञानी ज्ञान जोत है ॥४५॥

दोहा ।

चीकनकी सम अंशतैं, विषम अंशतैं रुच्छ ।
दोय अधिक होतें बँधैं, पुग्गलानुके गुच्छ ॥४६॥
चीकनता गुनकी अनू, पांच अंशजुत जौन ।
सात अंश चीकन मिलै, बंध होतु है तौन ॥४७॥
चार अंशजुत रुच्छसों, षट जुतसों बँध जात ।
यही भांति अनंत लगु, जानों भेद विख्यात ॥४८॥
दोय अनू अंशनि गिनैं, होहिं बराबर जेह ।
ताको बँध बँधै नहीं, यों जिनवैन भनेह ॥४९॥

(२२) गाथा–१६७ आत्माका उनका कर्तापनाका अभाव है।

छप्पय ।

दो प्रदेश आदिक अनंत, परमानु खंध लग ।
सूच्छिम बादररूप, जिते आकार धरे जग ॥
तथा अवनि जल अनल, अनिल परजाय विविधगन ।
ते सब [1]निग्ध रु रुच्छ, सुभावहितैं उपजे भन ॥
यह पुदगलदरवरचित सरव, पुगल करता जानिये ।
चिनमूरति यातैं भिन्न है, ताहि तुरित पहिचानिये ॥५०॥

(२३) गाथा–१६८ आत्मा उसको लानेवाला भी नहीं है।

मनहरण ।

लोकाकाशके असंख प्रदेश प्रदेश प्रति,
कारमानवर्गना भरी है पुद्गलकी ।
सूच्छिम और बादर अनंतानंत सर्वठौर,
अति अवगाढ़ागाढ़ संधिमाहिं झलकी ॥
आठ कर्मरूप परिनमन सुभाव लियें,
आतमाके गहन करन जोग बलकी ।
तेईस विकार उपयोगको सँजोग पाय,
कर्मपिंड होय बंधे रहै संग ललकी ॥ ५१ ॥

दोहा ।

तातैं पुद्गल करमको, आतम करता नाहिं ।
मूल भावतैं जीवकै, करम धूलि लपटाहिं ॥ ५२ ॥

---

१. स्निग्ध–चिकना ।

(२४) गाथा–१६९ आत्मा उसे कर्मरूप नहिं करता ।

मनहरण ।

कर्मरूप होनकी सुभावशक्ति जामैं वसै,
ऐसे जे जगत माहिं पुग्गलके खंध हैं ।
तेई जब जगतनिवासी जग जीवनिके,
परिनाम अशुद्धको पावैं सनबंध हैं ॥
तबै ताई काल कर्मरूप परिनवैं सोई,
ऐसो वृन्द अनादितैं चलो आवै धंध है ।
ते वै कर्मपिंड आतमाने प्रनवाये नाहिं,
पुग्गलके खंधहीसों पुग्गलको बंध है ॥ ५३ ॥

(२५) गाथा–१७० शरीरका कर्ता आत्मा नहीं है ।

जे जे दर्वकर्म परिनये रहे पुग्गलके,
कारमानवर्गना सुशक्ति गुप्त धरिके ।
तेई फेर जीवके शरीराकार होहि सब,
देहांतर जोग पाये शक्त व्यक्त करिके ॥
जैसे वटबीजमें सुभाव शक्ति वृच्छकी सो,
वटाकार होत वही शक्तिको उछरिके ।
ऐसे दर्वकर्म बीजरूप लखो वृन्दावन,
ताहीको सुफल देह जानों भर्म हरिके ॥ ५४ ॥

(२६) गाथा–१७१ आत्माके शरीरका अभाव है ।

औदारिक देह जो विराजै [१]नरतीरकके,
नानाभांति तासके अकारकी है रचना ।

---

१. नर–तिर्यंचके ।

तथा [1]वैयक्रीयक शरीर देवनारकीके,
जथाजोग ताहूके अकारकी है रचना ॥
तैजस शरीर जो शुभाशुभ विभेद औ,
अहारक तथैव कारमानकी विरचना ।
ये तो सर्व पुग्गल दरवके बने हैं पिंड,
यातैं चिदानंद भिन्न ताहीसों परचना ॥ ५५ ॥

(२७) गाथा-१७२ जीवका असाधारण स्वलक्षण जो परद्रव्योंसे विभागका साधन है वह क्या है ? चेतनालक्षणवाली अलिंग-ग्रहणकी गाथा ।

अहो भव्यजीव तुम आतमाको ऐसो जानो,
जाके रस रूप गंध फास नाहिं पाइये ।
शब्द परजायसों रहित नित राजत है,
अलिंगग्रहन निराकार दरसाइये ॥
चेतना सुभावहीमें राजै तिहूँकाल सदा,
आनंदको कंद जगवंद वृन्द ध्याइये ।
भेदज्ञान नैनतैं निहारिये जतनहीसों,
ताके अनुभव रसहीमें झर लाइये ॥ ५६ ॥

दोहा ।

शब्द अलिंगग्गहन गुरु, लिख्यौ जु गाथामाहिं ।
कछुक अरथ तसु लिखत हों, जुगतागमकी छांहिं ॥ ५७ ॥

---

१. वैक्रियक ।

चौपाई ।

चिह्न सुपुद्गलके हैं जिते । फरस रूप रस गंध जु तिते ।
तिन करि तासु लखिय नहिं चिह्न । याहूतैं सु अलिंगग्गहन ॥५८॥

अथवा तीन लिंग जगमाहिं । नारि नपुंसक नर ठहराहिं ।
ताहूकरि न लखिय तसु चिह्न । याहूतैं सु अलिंगग्गहन ॥५९॥

अथवा लिंग जु इंद्रिय पंच । ताहूकरि न लखिय तिहि रंच ।
अतिइन्द्रियकरि जानन सहन । य हूतैं सु अलिंगग्गहन ॥६०॥

अथवा इन्द्रियजनित जु ज्ञान । ताकरि है न प्रतच्छ प्रमान ।
की है आतमको यह चिह्न । याहूतैं सु अलिंगग्गहन ॥६१॥

अथवा लिंग नाम यह जुप्त । लच्छन प्रगट लच्छ जसु गुप्त ।
धूम अग्नि जिमि तिमि नहिं चिह्न । याहूतैं सु अलिंगग्गहन ॥६२॥

अथवा आनमती बहु तर्कैं । दोषसहित लच्छन अन तर्कैं ।
ताहूकरि न लखिय तसु चिह्न । याहूतैं सु अलिंगग्गहन ॥६३॥

इत्यादिक बहु अरथविधान । शब्द अलिंगगहनको जान ।
सो विशाल टीकातैं देखि । पंडित मनमें दियौ विशेखि ॥६४॥

यह चेतन चिद्रूप अनूप । शुद्ध सुभाव सुधारसकूप ।
स्वसंवेदनहिकरि सो गम्य । लखहिं अनुभवी समरसरम्य ॥६५॥

शब्दब्रह्मको पाय सहाय । करि उद्दिम मन-वचन-काय ।
काललब्धिको लहि संजोग । पावैं निकटभव्य ही लोग ॥६६॥

तातैं गुन अनंतको धाम । वचन अगोचर आतमराम ।
वृन्दावन उर नयन उघारि । देखो ज्ञानज्योति अविकारी ॥६७॥

(२८) गाथा–१७३ आत्माके अमूर्त–मूर्तका अभाव है तो बंध कैसे ?

मनहरण ।

मूरतीक रूप आदि गुनको धरैया यह,
पुग्गल दरवसों फरस आदिवानसों ।
आपुसमें बंधै नाना भांति परमानू खंध,
सो तो हम जानी सरधानी परमानसों ॥
तासों विपरीत जो अमूरत चिदातमा सो,
कैसे बँधे पुग्गल दर्व मूर्तिमानसों ।
यह तौ अचंभौ मोहि ऐसो प्रतिभासै वृन्द,
अमल मिलाप ज्यों "नितंब जु कानमों" ॥६८॥

(२९) गाथा–१७४ आत्माके अमूर्तत्व होने पर भी इस प्रकार बंध होता है ।

रूपादिक जे हैं मूरतीक गुन पुग्गलके,
तिनसों रहित जीव सर्वथा प्रमानसों ।
ऐसो है तथापि वह शून्यरूप होत नाहिं,
आपनी सुसत्तामें विराजे परधानसों ॥
सर्व दर्व सदा निज दर्वित आकार धरे,
काहूको आकार कभी मिलै नाहिं आनसों ।
तैसे ही अरूपी चिदाकार वृन्द आतमा है,
ताके अब सुनो जैसे बँधत विधानसौ ॥६९॥
रूपी दर्व घटपट आदिक अनेक तथा,
ताके गुनपरजाय विविध वितानसों ।

तिनको अरूपी जीव देखै जानै भलीभांत,

यह तो अबाध सिद्ध प्रतच्छ प्रमानसों ॥

जो न होत अरूप बन्ध यह आतमा तौ,

कैसे ताहि देखतो औ जानतो महानसों ।

तैसे ताके बंधको विधान हू सुजानौ वृन्द,

सनिल मिलाप ज्यों "शबद जुरै कानसों" ॥७०॥

दोहा ।

देखन जाननकी शकति, जो न जीवमहँ होत ।

तब किहि विधि संसारमें, बँधन होत उदोत ॥७१॥

मोह राग रुष भावकरि, देखत जानत जीव ।

ताही भाव विकारसों, आपु हि बँधत सदीव ॥७२॥

राग चिक्कनताई भई, दोष रुच्छता भाय ।

याहीके सुनिमित्ततैं, पुद्गलकरम बँधाय ॥७३॥

आतमके परदेश प्रति, वर्तित कर्म अनाद ।

तिनसों नूतन करमको, बंध परत निरवाद ॥७४॥

यह विवहारिक बंधविधि, निहचै बंध न सोय ।

जहँ अशुद्ध उपयोग है, मोह त्रिकंटक जोय ॥७५॥

मनहरण ।

जैसे ग्वालबालन बैल सांचे माटीनिके,

देखि जानि तिन्हैं अपनाये राग जोरसों ।

तिनके निकट कोऊ मारै तोरै बैलनिको,

तबै ते अधीर होय रोवैं धोवैं शोरसों ॥

तहां अब करो तो विचार भेदज्ञानी वृन्द,

बंधे हैं बयल सोकी ममताकी डोरसों ।

तैसें पुद्गल कर्म बाहिज निमित्त जानो,
बंध्यौ जीव निहचै अशुद्धता-मरोरसों ॥७६।

(३०) गाथा-१७५ भावबन्धका स्वरूप ।

माधवी ।

उपयोगसरूप चिदातम सो, इन इन्द्रिनिकी सतसंगति पाई ।
बहु भांतिके इष्ट अनिष्ट विषैं, तिनको तित जोग मिलै जब आई ॥
तब राग रु दोष विमोह विभावनि, -सों तिनमें प्रनवै लपटाई ।
तिनही करि फेरि बंधै तहँ आपु, यों भाविकबंधकी रीति बताई ॥७७॥

(३१) गाथा-१७६ भावबन्धकी युक्ति और द्रव्यबन्ध ।

मनहरण ।

रागादि विभावनिमें जौन भावकरि जीव,
देखै जानै इन्द्रिनिके विषय जे आये हैं ।
ताही भावनिसों तामें तदाकार होय रमै,
तासों फेरी बँधै यही भावबंध भाये हैं ॥
सोई भावबंध मानों चीकन रुखाई भयो,
ताहीके निमित्त सेती दर्वबंध गाये हैं ।
जामें आठ कर्मरूप कारमानवर्गना है,
ऐसे सर्वज्ञ भनि वृन्दको बताये हैं ॥७८॥

(३२) गाथा-१७७ बन्धके तीन प्रकार ।

पुव्वबंध पुग्गलसों फरस विभेद करि,
नयो कर्मवर्गनाके पिंडको गथन है ।

जीवके अशुद्ध उपयोग राग आदिकरि,
होत मोह रागादि विभावको नथन है ॥
दोऊको परस्पर संजोग एक थान सोई,
जीव पुग्गलातमके बंधको कथन है ।
ऐसे तीन बंधभेद वेदमें निवेर वृन्द,
भेदज्ञानीजनित सिद्धांतको मथन है ॥७९॥

(३३) गाथा–१७८ द्रव्यबंधके हेतु भावबन्ध ।

असंख्यात प्रदेश प्रमान यह आतमा सो,
ताके परदेश विषें ऐसे उर आनिये ।
पुग्गलीक कारमान वर्गनाको पिंड आय,
करत प्रवेश जथाजोग सरधानिये ॥
फेरि एक छेत्र अवगाहकरि बंधत है,
थिति परमान संग रहैं ते सुजानिये ।
देय निज रस खिर जाहिं पुनि आपुहिमों,
ऐसो भेद भर्म छेद भव्य वृन्द मानिये ॥८०॥

दोहा ।

कायवचनमन जोगकरि, जो आतम परदेश ।
कंपरूप होवैं तहां, जोग बंध कहि तेस ॥ ८१ ॥
तासु निमित्ततैं आवही; करमवरगना खंध ।
सो ईर्यापथ नाम कहि, प्रकृति प्रदेश सुबंध ॥ ८२ ॥
रागविरोध विमोहके, जैसे भाव रहाहिं ।
ताहिके अनुसारतैं, थिति अनुभाग बँधाहिं ॥ ८३ ॥

(३४) गाथा—१७९ राग परिणाम मात्र जो भाव बन्ध है सो द्रव्य बन्धका हेतु होनेसे वहाँ निश्चय बंध है।

द्रुमिला।

परदर्वविषैं अनुराग धरै, वसु कर्मनिको सोइ बंध करै।
अरु जो जिय रागविकार तजै, वह मुक्तवधूकहँ वेगि वरै॥
यह बंध रु मोच्छसरूप जथारथ, थोरहिमें निरधार धरै।
निहचै करिकै जगजीवनिके, तुम जानहु वृन्द प्रतीत भरै॥८४॥

चौपाई।

रागभाव प्रनवैं जे आंधे। नूतन दरव करम ते बाँधे॥
वीतरागपद जो भवि परसै। ताको मुक्त अवस्था सरसै॥८५॥

दोहा।

रागादिकको त्यागि जे, वीतराग हो जाहँ।
चले जाहिं वैकुंठमें, कोइ न पकरै बाहँ॥८६॥

(३५) गाथा—१८० राग द्वेष-मोह युक्त परिणामसे बन्ध है। राग शुभ या अशुभ होता है।

मनहरण।

परिनाम अशुद्धतैं पुग्गलकरम बंधै,
सोई परिनाम रागदोषमोहमई है।
तामें मोह दोष तो अशुभ ही हैं सदा काल,
रागमें दुभेद वृन्द वेद वरनई है॥
पंच परमेश्वरकी भक्ति धरमानुराग,
यह शुभराग भाव कथंचित लई है।

विषय कषायादिक तामें रतिरूप सो,
अशुभ राग सरवथा त्यागजोग तई है ॥८७॥

(३६) गाथा-१८१ शुभाशुभ परिणामके रहित परके प्रति प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा परिणाम शुद्ध होनेसे कर्म क्षयरूप मोक्ष है।

परवस्तुमांहिं जो पुनीत परिनाम होत,
ताको पुन्य नाम वृन्द जानो हुलसंत है।
तैसे ही अशुभ परिनाम परवस्तुविषैं,
ताको नाम पाप संकलेशरूप तंत है॥
जहां परवस्तुविषैं दोऊ परिनाम नाहिं,
केवल सुसत्ताहीमें शुद्ध वरतंत है।
सोई परिनाम सब दुःखके विनाशनको,
कारन है ऐसे जिन शासन भनंत है॥८८।

चौपाई।

पर परनतितैं रहित विचच्छन। सकल दुःख खयकारन लच्छन।
मोच्छवृच्छतरुवीज विलच्छन। शुद्धपयोग गहैं शिवगच्छन॥८९॥

(३७) गाथा-१८२ स्वाश्रयकी प्रवृत्ति और पराश्रयकी निवृत्तिकी सिद्धिके लिये स्वपरका विभाग बतलाते हैं।

मतगयन्द।

थावर जीव निकायनिके, पृथिवी प्रमुखादिक भेद घने हैं।
औ त्रसरासि निवासिनके, तनके कितनेक न भेद बने हैं॥
सो सब पुग्गलदर्वमई, चिनमूरतितैं सब भिन्न ठने हैं।
चेतन हू तिन देहनितैं, निहचै करि भिन्न जिनिंद भने हैं॥९०॥

(३८) गाथा १८३ वैसा ही सम्यक्‌ज्ञान और मिथ्या-ज्ञानरूप अज्ञान।

जो जन या परकारकरी, निज औ परको नहिं जानत नीके।
आपसरूप चिदानँद वृन्द, तिसे न गहै मदमोह वमीके॥
सो नित मैं तनरूप तथा, तन है हमरो इमि मानत ठीके।
भूरि भवावलिमाहिं भमै, निहचै वह मोह महामद पीके॥९१॥

(३९) गाथा-१८४ आत्माका कर्म क्या है?

मनहरण।

आतमा दरव निज चेतन सुपरिनाम,
ताहीको करत सदा ताहीमें रमत है।
आपने सुभावहीको करता है निइचै सो,
निजाधीन भाव भूमिकाहीमें गमत है॥
पुग्गलदरवमई जेते हैं प्रपंच संच,
देहादिक तिनको अकरता समत है।
ऐसो भेद भेदज्ञान नैनतैं विलोको वृन्द,
याही विना जीव भव भाँवरी भमत है॥९२॥

(४०) गाथा-१८५ पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म क्यों नहीं?

द्रुमिला।

यह जीव पदारथकी महिमा, जगमें निरखो भ्रमको हरिके।
मधि पुग्गलके परिवर्ततु है, सब कालविषैं निहचै करिके॥
तब हू तिन पुग्गल कर्मनिको, न गहै न तजै न करै धरिके।
वह आपुहि आप सुभावहितैं, प्रनवै सतसंगतिमें परिके॥९३॥

(४१) गाथा–१८६ पुद्गलोंको आत्मा यदि कर्मरूप परिणमित नहीं करता तो आत्मा जड़ कर्मोंके द्वारा कैसे ग्रहण या त्यागरूप किया जाता ?

मनहरण ।

सोई जीवदर्व अब संसार अवस्थामांहि,
अशुद्ध चेतना जो विभावकी ढरनि है ।
ताहीको बन्यौ है करतार ताके निमितसों,
याके आठ कर्मरूप धूलिकी धरनि है ॥
सोई कर्म धूल मूल भूलको सुफल देहि,
फेरी काहू कालमाहिं तिनकी करनि है ।
ऐसे बंधजोग भाव आपनो विभाव जानि,
त्यागै भेदज्ञानी जासों संसृत तरनि है ॥९४॥

(४२) गाथा–१८७ पुद्गलकर्मोंकी विचित्रताका (ज्ञानावरणीय आदिरूप) कर्ता कौन ?

जबै जीव राग–दोष समल विभावजुत,
शुभाशुभरूप परिनामको ठटत है ।
तबै ज्ञानावरनादि कर्मरूप परज याके,
जोग द्वार आयकै प्रदेशपै पटत है ॥
जैसे रितु पावसमें धाराधर धारनितैं,
धरनिमें नूतन अंकुरादि अटत है ।
तैसे ही शुभाशुभ अशुद्ध रागदोषनितैं,
पुग्गलीक नयौ कर्म बंधन बटत है ॥ ९५ ॥

दोहा।

तातैं पुद्गल दरव ही, निज सुभावतैं मीत ।
अति विचित्रगति कर्मको, कर्ता होत प्रतीत ॥ ९६ ॥

(४३) गाथा-१८८ अकेला आत्मा ही बंध है।

मनहरण ।

सो असंख प्रदेश प्रमान जगजीवनिके,
मोह राग दोष ये कषायभाव संग है ।
ताहीतैं करमरूप रजकरि बँधैं ऐसे,
सिद्धांतमें कही वृन्द बंधकी प्रसंग है ॥
जैसे पट लोध फटकड़ी आदितैं कसैलो,
चढ़त मजीठ रंग तापै सरवंग है ।
तैसे चिदानंदके असंख परदेशपर,
चढ़त कषायतैं करम रज रंग है ॥ ९७ ॥

(४४) गाथा-१८९ निश्चय-व्यवहारका अविरोध ।

बंधको कथन यह थोरेमें गथन निहचै,
मथनकरि ज्ञान तुलामें तुलतु है ।
जीवनिके होत सो दिखाई जिनराज मुनि,
मंडलीको जानैं उरलोचन खुलतु है ॥
यासों विपरीत जो है पुद्गलीक कर्मबंध,
सो है विवहार वृन्द काहेको भुलतु है ।
निज-निज भावहीके करता सरव दर्व,
यही भूले जीव कर्मझूलना झुलतु है ॥ ९८ ॥

पुण्य-पापरूप परिनाम जो हैं आतमाके,
रागादि सहित ताको आपु ही है करता ।
तिन परिनामनिकों आप ही गहन करै,
आपु ही जतन करै ऐसी रीति धरता ॥
तातैं इस कथनको कथंचित शुद्ध दरवारथीक,
नय ऐसे भनी भर्महरता ।
पुग्गलीक दर्व कर्मको है करतार सो,
अशुद्ध विवहारनयद्वारतैं उचरता ॥९९॥

प्रश्न—छप्पय ।

रागादिक परिनाम बंध, निहचै तुम गाये ।
फेरि शुद्ध दरवारथीक नय, विषय बताये ॥
पुनि सो गहने जोग, कहत हौ हे मुनिराई ।
वह रागादि अशुद्ध, दरवको करत सदाई ॥
यह तो कथनी नहिं संभवत, क्यों अशुद्धको गाहिये ।
याको उत्तर अब देयके, संशय मैटो चाहिये ॥१००॥

उत्तर—दोहा ।

रागादिक परिनाम तौ, है अशुद्धतारूप ।
याहीकरि संसारमें, हैं अशुद्ध चिद्रूप ॥१०१॥
यामें तौ संदेह नहिं, है परंतु संकेत ।
यहाँ विविच्छाभेदतैं, कथन करी जिहि हेत ॥ १०२ ॥

छप्पय ।

शुद्ध दरवका कथन, एक दरवाश्रित जानो ।
और दरवका और मो(?), अशुद्धता सो(?) मानो ॥

यही अपेच्छा यहां, कथनका जोग बना है ।
औ पुनि निहचैं बंध, नियत नय गहन भना है ॥
ताको सुहेत अब कहत हौं, सुनो गुनो मन लायकै ।
जातैं सब संशय दूर है, सुथिर होहु शिव पायकै ॥१०३॥

चौबोला ।

जो यह जीव लखै अपनेको, निज विकारतैं बंध धरै ।
तौ विकार तजि वीतराग ह्वै, छूटन हेत उपाय करै ॥
जो प्राकृत बंधन समुझै तब, वेदांतीवत नाहिं डरै ।
यही अपेच्छा यहां कथन है, समुझै सो भवसिंधु तरै ॥१०४॥

(४५) गाथा–१९० अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माकी ही प्राप्ति होती है ।

मनहरण ।

जाकी मति मैली ऐसी फैली जो शरीरपर,
दर्वहीको कहै की हमारो यही रूप है ।
तथा यह मेरो ऐसो चेरो भयो मोहहीको,
छोड़ै न ममत्व बुद्धि धरै दौरधूप है ॥
सो तो साम्यरसरूप शुद्ध मुनिपद ताको,
त्यागिकै कुमारगमें चलत कुरूप है ।
ताको ज्ञानानंदकंद शुद्ध निरद्वंद सुख,
मिलै न कदापि वह परै भवकूप है ॥१०५॥

दोहा ।

है अशुद्ध नयको विषय, ममता मोह विकार ।
ताहि धरे वरतै सु तौ, लहै न पद अविकार ॥१०६॥

(४६) गाथा–१९१ शुद्धनयसे ही शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है।

मनहरण।

मैं जो शुद्ध बुद्ध चिनमूरत दरव सो तौ,
परदर्वनिको न भयो हों काहू कालमें।
देहादिक परदर्व मेरे ये कदापि नाहिं,
ये तौ निजसत्ताहीमें रहैं सब हालमें ॥
मैं तौ एक ज्ञानपिंड अखंड परमजोत,
निर्विकल्प चिदाकार चिदानंद चालमें।
ऐसें ध्यानमाहिं जो सुध्यावत स्वरूप वृन्द,
सोई होत आतमाको ध्याता वर भालमें ॥१०७॥

दोहा।

शुद्ध दरवनयको गहै, निहचैरूप अराध।
शुद्ध चिदातम सो लहै, मैटै कर्म उपाध ॥१०८॥

(४७) गाथा–१९२ ध्रुवत्वके कारण शुद्धात्मा ही प्राप्त करने योग्य है।

मनहरण।

हूं जो हौं विशुद्ध भेदज्ञान नैनधारी सो,
निजातमा दरव ताहि ऐसे करि जानौ हौं।
सहज सुभाव निज सत्ताहीमें ध्रौव सदा,
ज्ञानके सरूप दरसनमई मानौ हौं ॥
परभाव तजे तातैं शुद्ध औ अतिंद्री सर्व,
पदारथ जानैंतैं महारथ प्रमानौ हौं।

आपने सरूपमें अचल परवस्तुकों न,
अवलंब करै यातैं अनालंब ठानो हौं ॥१०९॥

दोहा ।

ज्ञानरूप दरसनमई, अतिइन्द्री ध्रुव धार ।
महा अरथ पुनि अचलवर, अनालंब अविकार ॥११०॥

सात विशेषनि सहित इमि, लख्यौ आतमाराम ।
ताही शुद्ध सरूपमें, हम कीनों विसराम ॥१११॥

पंच विशेषनिको कथन, करि आये बहु थान ।
अनालंब अरु महारथ, इनको सुनो वखान ॥११२॥

मनहरण ।

कर्ममल नासिके प्रकाश होत ज्ञान जोत,
सो तो एकरूप ही अभेद चिदानंद है ।
तासमें सभेद वृन्द ज्ञेय प्रतिबिंब सब,
तासकी सपेच्छ भेद अनंत सुछन्द है ॥
पांचों जड़दर्वके सरूपको दिखावै सोई,
याहीतैं महारथ कहावत अमंद है ।
परवस्तुको सुभाव कभी न अलंब करै,
तातैं अनालंब याकों भाषै जिनचंद है ॥११३॥

(४८) गाथा–१९३ निजात्माके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है ।

दोहा ।

तन धन सुख दुख मित्र अरि, अध्रुव भने जिनभूप ।
ध्रौव निजातम ताहि गहु, जो उपयोगसरूप ॥११४॥

(४९) गाथा-१९४ इससे क्या होता है?

मतगयन्द ।

जो भवि होय महाव्रतधारक, या सु अनुव्रतकारक कोई ।
या परकारसों जो परमातम, जानिके ध्यावत है थिर होई ॥
सो सुविशुद्ध सुभाव अराधक, मोहकी गांठि खपावत सोई ।
ग्रंथनिको सब मंथनिकै, निरग्रंथ कथ्यौ रससार इतोई ॥११५॥

(५०) गाथा-१९५ मोहग्रन्थी टूटनेसे क्या-क्या होता है?

मनहर ।

अनादिकी मोह दुरबुद्धिमई गांठि ताहि,
जाने दूर कियौ निज भेदज्ञान बलतैं ।
ऐसो होत संत वह इन्द्रिनिके सुख दुख,
सम जानि न्यारे रहै तिनके विकलतैं ॥
सोई महाभाग मुनिराजकी अवस्थामाहिं,
राग दोष भावको विनाशै मूल थलतैं ।
पावै सो अखंड अतिइन्द्रिय अनंत सुख,
एक रस वृन्दावन रहै सो अचलतैं ॥११६॥

(५१) गाथा-सुध्यानसे अशुद्धता नहीं आती ।

मोहरूप मैलको खिपावै भेदज्ञानी जीव,
इन्द्रिनिके विषैसों विरागता सु पुरी है ।
मनको निरोधिकै सुभावमें सुथिर होत,
जहां शुद्ध चेतनाकी ज्ञानजोत फुरी है ॥
सोई चिनमूरत चिदातमाको ध्याता जानो,
पर वस्तुसे भी जाकी प्रीति रीति दुरी है ।

ऐसे कुन्दकुन्दजी बखानी ध्यान ध्याता वृन्द,
सोई सरधानै जाकी मिथ्यामति चुरी है ॥११७॥

प्रश्न—दोहा

जो मन चपल [1]पताकपट, पवन दीपसम ख्यात ।
सो मन कैसे होय थिर, उत्तर दीजे भ्रात ॥११८॥

उत्तर—

पांचों इन्द्रिनके जिते, विषय भोग जगमाहिं ।
तिनहीसों मन रातदिन, भ्रमतो सदा रहाहि ॥११९॥
मोह घटे वैरागता, होत तजै सब भोग ।
निज सुभाव सुखमाहिं तब, लीन होय उपयोग ॥१२०॥
तहां सुमनको खैंचके, एक निजातम भाव ।
तामधि आनि झुकाइये, भेदज्ञानपरभाव ॥१२१॥
तहां सो मनकी यह दशा, होत औरसे और ।
जैसे काग-जहाजको, सूझै और न ठौर ॥१२२॥
जो कहुँ इत उतको लखै, तौ न कहूं विसराम ।
तब हि होय एकाग्र मन, ध्यावै आतमराम ॥१२३॥
ऐसे आतमध्यानतैं, मिलै अतिन्द्री शर्म ।
शुद्ध बुद्ध चिद्रूपमय, सहज अनाकुल धर्म ॥१२४॥

(५२) गाथा-१९७ सर्वज्ञ भगवान क्या ध्याते हैं?

मनहरण ।

घातिकर्म घाति भलीभांत जो प्रतच्छ सर्व,
वस्तुको सरूप निज ज्ञानमाहिं धरै है ।

1. पताका-निशानका वस्त्र ।

ज्ञेयनिके सत्तामें अनंत गुन-पर्ज शक्ति,
ताहूको प्रमानकरि आगे विसतरे है ॥
असंदेहरूप आप ज्ञाता सिरताज वृन्द,
संशय विमोह सब विभ्रमको हरे है ।
ऐसो जो श्रमण सरवज्ञ वीतराग सो,
बतावो अब कौन हेत काको ध्यान करे है ॥१२५॥

मोह उदै अथवा अज्ञानतासों जीवनिके,
सकल पदारथ प्रतच्छ नाहि दरसै ।
यातैं चित चाहकी निवाह हेत ध्यान करै,
अथवा संदेहके निवारिवेको तरसै ॥
सो तो सरवज्ञ वीतरागजूके मूल नहिं,
[1]घातिविधि घातैं ज्ञानानंद सुधा वरसै ।
इच्छा आवरन अभिलाष न संदेह तब,
कौन हेत ताको ध्यावै ऐसो संशै परसै ॥१२६॥

ज्ञानावरनादि सर्व बाधासों विमुक्त होय,
पायो है अबाध निज आतम धरम है ।
ज्ञान और सुख सरवंग सब आतमाके,
जासों परिपूरित सो राजै अभरम है ॥
इन्द्रीसों रहित उतकिष्ट अतिइन्द्री सुख,
ताहीको एकाग्ररूप ध्यावत परम है ।
ये ही उपचारकरि केवलीके ध्यान कह्यौ,
भेदज्ञानी जानै यह भेदको मरम है ॥१२७॥

---

१. घातियाकर्म ।

(५३) गाथा-१९८ उन्हें परम सौख्यका ध्यान है।

दोहा।

अतिइन्द्री उतकिष्ट सुख, सहज अनाकुलरूप।
ताहीको एकाग्र निज, अनुभवते जिनभूप ॥१२८॥
अनइच्छक बाधा रहित, सदा एक रस धार।
यही ध्यान तिनके कह्यौ, नय उपचार अधार ॥१२९॥
पुव्व कर्मकी निरजरा, नूतन बंधै नाहिं।
यही ध्यानको फल लखौ, वृन्दावन मनमाहिं ॥१३०॥

(५४) गाथा-१९९ मोक्षमार्ग शुद्धात्माकी उपलब्धि लक्षणवाला है।

मनहरण।

या प्रकार पूरवकथित शिवमारगमें,
सावधान होय जो विशुद्धता संभारी है।
चरमशरीरी जिन तथा तीरथंकर,
जिनिंददेव सिद्ध होय वरी शिवनारी है॥
तथा एक दोय भवमाहिं जे मुकत जाहिं,
ऐसे जे श्रमन शुद्ध भाव अधिकारी है।
तिन्हें तथा ताही शिवमारगको वृन्दावन,
वार वार भली भांति वंदना हमारी है ॥१३१॥

दोहा।

बहुत कथन कहँ लगु करों, जो शुद्धातम [१]तत्त।
ताहीमें [२]परवर्त करि, भये जु [३]तदगत-रत्त ॥१३२॥

---

१. तत्त्व। २. प्रवृत्ति। ३. तद्गतरक्त-लवलीन।

ऐसे सिद्धनिकों तथा, आतम अनुभवरूप ।
शुद्ध मोख-मगको नमों, दरवितभाव सरूप ॥१३३॥

(५५) गाथा—२०० स्वयं हो मोक्षमार्गरूप शुद्धात्म-प्रवृत्ति करते हैं ।

मनहरण ।

तातैं जैसे तीरथेश आदि निजरूप जानि,
शुद्ध सरधान ज्ञान आचरन कीना है ।
कुन्दकुन्द स्वामी कहैं ताही परकार हम,
ज्ञायक सुभावकरि आपै आप चीना है ॥
सर्व परवस्तुसों ममत्वबुद्धि त्यागकरि,
निर्ममत्व भावमें सु विसराम लीना है ।
सोई समरसी वीतराग साम्यभाव वृन्द,
मुकतको मारग प्रमानत प्रवीना है ॥१३४॥

मेरो यह ज्ञायक सुभाव जो विराजत है,
तासों और ज्ञेयनिसों ऐसो हेत झलकै ।
कैधों वे पदारथ उकीरे ज्ञान थंभमाहिं,
कैधों ज्ञान पटविषैं लिखे हैं अचलकै ॥
कैधों ज्ञान कूपमें समानै हैं सकल ज्ञेय,
कैधों काहू कीलि राखे त्याग तन पलकै ।
कैधों ज्ञानसिंधुमाहिं डूबे धों लपटि रहे,
कैधों प्रतिबिंबत हैं [१]सीसेके महलकै ॥१३५॥

---

१. कांचके ।

ऐसो ज्ञान ज्ञेयको बन्यो है सनबंध तऊ,
मेरो रूप न्यारो जैसें चंद्रमा फलकमें ।
अनादिसों और रूप भयो है कदापि नाहिं,
ज्ञायक सुभाव लिये राजत खलकमें ॥
ताको अब निहचै प्रमान करि वृन्दावन,
अंगीकार कियौ भेदज्ञानकी झलकमें ।
त्यागी परमाद परमोद धारी ध्यावत हों,
जातैं पर्म धर्म शर्म पाइये पलकमें ॥१३६॥

दोहा ।

मेरो रूप अनादितैं, थो याही परकार ।
मोहि न सूझ्यो मोहवश, ज्यों मृग [१]मृगमद धार ॥१३७॥

अब जिनप्रवचन दीपकरि, आप रूप लखि लीन ।
तजि आकुल भ्रम मोहमल, भये तासुमें लीन ॥१३८॥

अब वंदों शिवपंथ जो, शुद्धपयोग सरूप ।
इक अखंड वरतत त्रिविधि, अमल अचल चिद्रूप ॥१३९॥

भये जासु परसादतैं, शुद्ध सिद्ध भगवान ।
[२]सुमग सहित वन्दों तिन्हें, भावसहित धरि ध्यान ॥१४०॥

और जीव तिहि मगविषैं, जे वरतत उमगाय ।
भावभगतजुत प्रीतिसों, तिन्हें नमों सिरनाय ॥१४१॥

कुन्दकुन्द श्रीगुरु भये, भवदधितरन जिहाज ।
प्रवचनसार प्रकाशके, [३]सारे भविजन काज ॥१४२॥

---

१. कस्तूरी । २. जैन आगम । ३. पूर्ण किये ।

ते गुरु मो मन मल हरो, प्रगटो स्वपरविवेक ।
आपा पर पहिचानमें, रहै न भर्म [१]रतेक ॥१४३॥

चौपाई।

पूरन होत अबै अविकार । हेयादेय छठो अधिकार ।
आगे चारितको अधिकार । होत अरंभ शुद्ध सुखकार ॥१४४॥

छन्द कवित्त ।

मोह भरम तम भर्यो अभिंतर, होत न आपा पर निरधार ।
पुग्गल-जनित ठाठ बहुविधि लखि, ताकों आपा लखत गँवार ॥
आपरूप जो वस्तु विलच्छन, ज्ञायक लच्छन धरै उदार ।
भेदज्ञान विन सो नहिं सूझत, है वह [२]"तिनके ओट पहार" ॥१४५॥

दोहा।

जैवंतो जिनदेव जो, पायौ शुद्ध सरूप ।
कर्म कलंक विनाशिके, भये अमल चिद्रूप ॥१४६॥
सो इत नित मंगल करो, सुखसागरके इन्दु ।
वृन्दावन वंदन करत, अर्ह वरन जुत विंदु ॥१४७॥

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्री प्रवचनसारजीकी वृन्दावनकृत भाषाविषैं द्रव्यनिका विशेषरूप कथनका अधिकारके पीछें विवहारिक जीवदशा ज्ञेयतत्त्वकथन ऐसा छठ्यो अधिकार सम्पूर्णम् ।

मिती पौष वदी ९ भौम संवत् १९०५ काशीजीमें वृन्दावनने लिखी स्वपरोपकाराय । इहांताईं गाथा २०२ । और भाषाके छंद सब ७२८ भये सो जयवंत होहु—

---

१. रती भर भी। २. तृणके अर्थात् तिनकाके ।

ओं नमः सिद्धेभ्यः

अथ सप्तमश्चारित्राधिकारः ।

मंगलाचरण—दोहा ।

श्री अरहंत प्रनाम करि, सारद सुगुरु मनाय ।
विघनकोट जातैं कटैं, नित नव मंगलदाय ॥ १ ॥
चारितको अधिकार अब, शिवसुखसाधनहेत ।
लिखों ग्रंथ–पथ पेखकै, जो अबाध सुख देत ॥ २ ॥

अथ मोक्षाभिलाषीका लक्षण—मनहरण ।

मोच्छअभिलाषी भव्य जीवको प्रथम सर्व,
दर्वनिको जथारथ ज्ञान भयो चहिये ।
तैसैंही चारित्रको स्वरूप भले जान करि,
ज्ञानके सुफलहेत ताकों तब गहिये ॥
आतमीक ज्ञानसेती जेती अविरोध क्रिया,
इच्छा अहंकार तजि ताहीको निवहिये ।
ऐसे ज्ञान आचरन दोनोंमाहिं वृन्दावन,
एकताई भयेहीसों अखै सुख लहिये ॥ ३ ॥

(१) गाथा–२०१ अब इस अधिकारकी गाथाओंका प्रारंभ ।

चरणानुयोग सूचक चूलिका ।

दोहा ।

ग्रंथारभ विषैं सुगुरु, जिहिकारि वंदे इष्ट ।
तिनही गाथनिसों यहां, नमैं पंचपरमिष्ट ॥ ४ ॥
फिर गुरु कहत दयाल वर, जिमि हम इष्ट मनाय ।
अमलज्ञान दरसनमई, पायौ साम्य सुभाय ॥ ५ ॥

तैसेही भवि वृन्द तुम, दुखसों छूटन हेत ।
यह मुनिमारग आचरौ, जो सुभवनिधि देत ॥ ६ ॥

(२) गाथा–२०२ श्रमण होनेका इच्छुक पहले क्या-क्या करता है उसका उपदेश ।

द्रुमिला ।

अपने सुकुटंब समूहनिसों, वह पूछिकै भेदविज्ञानधनी ।
गुरु मात पिता रमनी सुतसों, निरमोहित होय विराग भनी ॥
तव दर्शन ज्ञान चरित्र तथा, तप वीरज पंच अचार गनी ।
इनको दिढ़ताजुत धारत है विधि, सों सविवेक प्रमाद हनी ॥ ७ ॥

अथ वन्धुवर्ग संवोधन–विधि—चौपाई ।

मुनिमुद्रा जो धारन चहै । सो इमिसव कुटुम्बसों कहै ।
जो यह तनमें चेतनराई । सो आतम तुम्हारो नहिं भाई ॥ ८ ॥
यह निहचैकरि तुम अवधारो । तातैं मोसों ममता छाँरो ।
मो उर ज्ञानजोत परकासे । आपुहि आप वंधु ढिग भासे ॥ ९ ॥

मातुपिता- संबोधन ।

इस जनके तनके पितुमाता । अहो सुनो तुम वचन विख्याता ।
इस तनको तुमने उपजाया । आतमको तुम नहिं निपजाया ॥१०॥
यह निहचै करके अवधारो । तातैं मोसों ममता छाँरो ।
ज्ञानजोतिजुत आतमरामा । यह प्रगट्यो है चिद्गुनग्रामा ॥११॥
अपनो सहज सुभाव सु सत्ता । सोई मातपिता ध्रुववत्ता ।
तासों यह अव प्रापत हो है । यातैं मोसों तजिये मोहै ॥१२॥

स्त्रीसंबोधन–वचन ।

हे इस चेतन तनकी नारी । रमी तु तनसों वहुत प्रकारी ।
आतमसों तू नाहिं रमी है । यह निहचैकरि जानि सही है ॥१३॥

तातैं इस आतमसों ममता । तजि करि तू अब धरि उर समता ॥
मम घट ज्ञानजोत अब जागा । विषयभोग विषसम मोहि लागा ॥१४॥
निजअनुभूतरूप वरनारी । तासों रमन चहत अविकारी ।
इहि विधि परविरागजुत वानी । कहै नारिसों भेदविज्ञानी ॥१५॥

पुत्रसंबोधन-वचन ।

हो इस जनके तनके जाये । पुत्र सुनो मम वचन सुहाये ॥
तू इस आतमसों नहिं जाया । यह निहचै करि समुझ सु भाया ॥१६॥
तातैं तुम मम ममता त्यागो । समताभाव-सुधारस पागो ॥
यह आतम निज ज्ञानजोतिकर । प्रगट भयो उर-मोह-तिमिर-हर ॥१७॥
याके सुगुन सुपून सयाने । हैं अनादितैं संग प्रधाने ॥
तिनसों प्रापति होन चहै है । तुमसों यह समुझाय कहै है ॥१८॥

दोहा ।

बन्धुवरगसों आपुको, या विधि लेय छुड़ाय ।
कहि विरागके वचन वर, मुनिपद धारै जाय ॥ १९ ॥
जो आतमदरसी पुरुष, चाहै मुनिपद लीन ।
सो सहजहि सुकुटुम्बसों, ह्वै विरकत परवीन ॥ २० ॥
ताहि जु आय परै कहूँ, कहिवेको सनवंध ।
तो पूरव परकारसों, कहै वचन निरबंध ॥ २१ ॥
कछु ऐसो नहिं नियम जो, सब कुटुम्ब समुझाय ।
तबही मुनिमुद्रा धरै, बसै सु वनमें जाय ॥ २२ ॥
सब कुटुम्ब काहू सुविधि, राजी नाहीं होय ।
गृह तजि मुनिपद धरनमैं, यह निहचै करि जोय ॥ २३ ॥

जो कहुं बनै बनाव तौ, पूरबकथित प्रकार ।
कहि विरागजुत वचन वर, आप होय अनगार ॥ २४ ॥

तहां बन्धुके वर्गमें, निकटभव्य कोइ होय ।
सुनि विरागजुत वचन तित, मुनिव्रत धारै सोय ॥ २५ ॥

अथ पंचाचारग्रहण विधि ।

अब जिस विधिसों गहत हैं, पंचाचार पुनीत ।
लिखों सुपरिपाटीसहित, जथा सनातनरीत ॥ २६ ॥

मनहरण ।

आतमविज्ञानी जीव आपने सरूपको,
सुसिद्धके समान देखि जानि अनुभवता ।
उपाधीक भावनितैं आपुको नियारो मानि,
शुभाशुभक्रिया हेय जानिके न भवता ॥
पुव्वबद्ध उदैतैं विकारपरिनाम होत,
रहै उदासीन तहां आकुल न पवता ।
सो तो परदर्वनिको त्यागी है सुभावहीतैं,
गहै ज्ञानगुन वृन्द तामें लवलवता ॥ २७ ॥

दोहा ।

ऐसे ज्ञानी जीवको, अब क्या त्यागन जोग ।
अंगीकार करै कहा, जहं सुभावरस भोग ॥ २८ ॥
पै चारित्रसुमोहवश, होहिं शुभाशुभभाव ।
तासु अपेच्छातैं तिन्हैं, त्याग गहन दरसाव ॥ २९ ॥
प्रथमहि गुनथानकनिकी, परिपाटी परमान ।
अशुभरूप परनति तजै, निहचै सो बुधिवान ॥ ३० ॥

पीछे शुभ परनतिविषैं, रतनत्रय विवहार ।
पंचाचार गहन करै, सो जतिमति अनुसार ॥ ३१ ॥

चौपाई ।

अहो आठविधि ज्ञानाचार । कालाध्ययन विनय हितकार ॥
उपाधान वहुमान विधान । और अनिह्नव भेद प्रमान ॥३२॥
अरथ तथा विंजन उर आन । तदुभय सहित आठ इमि जान ॥
मैं निहचै तोहि जानों सही । शुद्धातम सुभाव तू नहीं ॥३३॥
पै तथापि तवलों तोहि गहों । जवलों शुद्धातम निज लहों ॥
तुवप्रसाद सीझै मम काज । यों कहि विनय गहै गुन साज ॥३४॥

अथ दर्शनाचार धारण विधि ।

अहो आठ दरशनआचारा । निःशंकित निःकांछित धारा ॥
निरविचिकित्सा निरमूढ़ता । उपगूहन [1]थिति [2]वाच्छल्लता ।३५।
मैं निहचै तोहि जानों सही । शुद्धातम सुभाव तू नही ॥
पै तथापि तवलों तोहि गहों । जवलों शुद्धातम निज लहों ॥३६॥
तुवप्रसाद सीझै मम काज । यों करि विनय गहै गुन साज ॥
समदिष्टी भविजीव प्रवीन । हिये विवेकदशा अमलीन ॥३७॥

अथ चारित्राचार धारण विधि ।

अहो मुकतिमगसाधनहार । तेरहविधि चारित्राचार ॥
पांच महाव्रत गुपति सु तीन । पांचों समिति भेद अमलीन ॥३८॥
मैं निहच तोहि जानों सही । शुद्धातम सुभाव तू नही ॥
पै तथापि तवलों तोहि गहों । जब लों—शुद्धातम निज लहों ॥३९।

---

१. स्थितिकरण । २. वात्सल्य ।

तुव प्रसाद सीझै ममकाज । यों करि विनय गहै गुन साज ।
सुपरदया दोनों उर धेरै । होय दिगंबर शिवतिय वेरै ॥४०॥

अथ तपाचार धारण विधि ।

अहो दुवादश तप आचारा । अनशन अवमोदर्य उदारा ॥
व्रतपरिसंख्या रसपरित्यागी । [1]विविक्तिसज्यासन बड़भागी ।४१।
कायक्लेश छ [2]वाहिज येहा । [3]प्राच्छित विनय सकल गुनगेहा ॥
वैयाव्रत रत नित स्वाध्याये । ध्यानसहित [4]व्युतसर्ग बताये ॥४२॥
मैं निहचै तोहि जानों सही । शुद्धातम सुभाव तू नही ॥
पै तथापि तबलों तोहि गहों । जबलों शुद्धातम निज लहों ॥४३॥
तुव प्रसाद सीझै मम काज । यों करि विनय गहै गुन साज ॥
उभयभेद तप खेद न धेरै । महा हरष मनमें विसतरै ।४४॥

अथ वीर्याचारावधारण विधि ।

अहो सुशकति बढ़ावनिहार । वीर्याचार अचारअधार ।
मैं निहचै तोहि जानों सही । शुद्धातमसुभाव तू नही ॥४५॥
पै तथापि तबलों तोहि गहों । जबलों शुद्धातम निज लहों ॥
तुव प्रसाद सीझै मम काज । यों करि विनय गहै गुन साज ॥४६॥

दोहा ।

पंचाचार पुनीतको, इहिविधि धारै धीर ।
और कथन आगे सुनो, जो मेटै भवपीर ॥ ४७॥

(३) गाथा–२०२ वह कैसा है उसका वर्णन ।

मनहरण ।

पंचाचारविधिमें प्रवीन जे अचारज जो,
मूलोत्तर गुनकरि पूरित अभंग है ।

---

१. विविक्तशय्यासन । २. बाह्य । ३. प्रायश्चित । ४. कायोत्सर्ग ।

कुल रूप वयकी विशेषताई लिये वृन्द,
मुनिनिको प्रियतर लगै सरवंग है ।
तापै यह जाय सिर नाय कर जोरि कहै,
स्वामी मोहि अंगीकार कीजिये उमंग है ।
ऐसे जब कहै तब स्वामी अंगीकार करैं,
तबै वह नयो मुनि रहै संग संग है ॥४८॥

अथ आचार्य लक्षण—चौपाई ।

पंचाचार आप आचरहीं । औरनिको तामें थिर करहीं ।
दोनोंविधिमें परम प्रवीने । निज अनुभव समतारस भीने ॥४९॥
जे उत्तमकुलके अवतारी । जिनहिं निशंक नमहिं नरनारी ।
रहितकलंक क्रूरता त्यागी । सरल सुभाव सुजसि वडभागी ॥५०॥
हीनकुली नहिं वंदनजोगू । ताके होहि न शुद्धपयोगू ।
कुलक्रमके क्रूरादि कुभावैं । हीनकुलीमें अवशि रहावैं ॥५१॥
यातैं कुलविशेषताधारी । उचितकुली पावै पद भारी ।
अरु जिनकी बाहिज छबि देखी । यह प्रतीति उर होत विशेखी ॥५२॥
है इनके घट शुद्धप्रकासा । साम्यभाव अनुभव अभ्यासा ।
अंतरंगगत बाहिज दरसै । रूपविशेष यही सुख सरसै ॥५३॥
बालक तथा बुढ़ापामाहीं । बुद्धि चपल अरु विकल रहाहीं ।
तिनसों रहित सूरि परधाना । धीर बुद्धि गुन कृपानिधाना ॥५४॥
जोवनदशा काममद व्यापै । तासों वर्जित अचलित आपै ।
यह विशेषता वयक्रमकेरी । ताहि धरैं आचारज हेरी ॥५५॥

धरैं सुव्रतत्रय वर्जितदूषन । शीलसिंधु गुनरतनविभूषन ।
क्रियाकांड सिद्धांतनिके मत । कहि समुझावहिं मुनिजनको सत ॥५६॥
जो मुनिको दूषन कहुँ लागै । मूलोत्तरगुनमें पद पागै ।
प्राच्छित देय शुद्ध करि लेही । तातैं अतिप्रिय लागत तेही ॥५७॥
ऐसे आचारजपै जाई । कहै नवीन मुनी शिर नाई ।
मोकों शुद्धातमको लाहू । हे प्रभु प्रापति करि अवगाहू ॥५८॥
तव आचारज कहहिं उदारा । तोको शुद्धातम अविकारा ।
ताकी लाभ करावनिहारी । यही भगवती दिच्छा प्यारी ।५९॥
ऐसी सुनि सो मन हरषाई । मानहु रंक महानिधि पाई ।
बारवार गुरुको सिरनाई । तव मुनिसंग रहै सो जाई ॥६०॥

(४) गाथा-२०४ यथाजातरूपका धारक ।

मनहरण ।

मेरे चिनमूरततैं भिन्न परदर्व जिते,
तिनको तो मैं न कहूं भयौ तिहूँकालमें ।
तेऊ परदर्व मेरे नाहिं जातैं कोई दर्व,
काहूको सुभाव न गहत काहू हालमें ॥
तातैं इसलोक विषैं मेरी कछु नाहिं दिखै,
मेरो रूप मेरी ही चिदातमाकी चालमें ।
ऐसे करि निश्चै निज इन्द्रिनिको जीति जथा,
जातरूपधारी होत ताको नावों भाल मैं ॥६१॥

दोहा ।

जथाजातको अर्थ अब, सुनो भविक धरि ध्यान ।
ग्रंथपंथ निर्ग्रंथ जिमि, मंथन करी प्रमान ॥६२॥

स्वयंसिद्ध जसो कछुक, है आतमको रूप ।
तैसो निजघरमें धरै, अमल अचल चिद्रूप ॥ ६३ ॥
दूजो अर्थ प्रतच्छ जो, जैसो मुनिपद होय ।
तैसी ही मुद्रा धरै, दरवलिंग है सोय ॥ ६४ ॥
ऐसे दोनों लिंगको, धारत धीर उदार ।
जथाजात ताको कहैं, बरै सोइ शिवनार ॥ ६५ ॥

(५) गाथा—२०५ अथ द्रव्यलिंग लक्षण ।

मनहरण ।

जथाजात दर्वलिंग ऐसो होत जहां,
परमानू परमान परिगहन रहतु है ।
शीस और डाढ़ीके उपारि डारै केश आप,
शुद्ध निरगंथपंथ मंथके गहतु है ॥
हिंसादिक पंच जाके रंच नाहिं संचरत,
ऐसे तीनों जोग संच संच निबहतु है ।
देह खेह-खानके सँवारनादि क्रियासेती,
रहित विराजै जैसी आगम उकतु है ॥६६॥

(६) गाथा—२०६ अथ भावलिंग ।

परदर्वमाहिं मोह ममतादि भावनिको,
जहां न अरंभ कहूँ निरारम्भ तैसो है ।
शुद्ध उपयोग वृन्द चेतना सुभावजुत,
तीनों जोग तैसो तहां चाहियत जसो है ॥
परदर्वके अधीन वर्त्तत कदापि नाहिं,
आतमीक ज्ञानको विधानवान वैसो है ।

मोखसुखकारन भवोदधि उधारनको,
अंतरंगभावरूप जैनलिंग ऐसो है ॥६७॥

दोहा।

दरवितभावितरूप इमि, जथाजातपद धार।
अब आगे जो करत है, सुनो तासु विसतार ॥६८॥

(७) गाथा-२०७ साक्षात् मुनिपद।

मनहरण।

परमगुरू सो दर्वभाव मुनिमुद्रा धारि,
जथाजातरूप मनमाहिं हरसत है।
गुरूको प्रनाम थुति करै तब बारबार,
जाके उर आनंदको नीर बरसत है॥
मुनिव्रतसहित जे क्रियाको विभेद वृन्द,
तासुको श्रवनकरि हिये सरसत है।
ताहीको गहनकरि ताहीमें सुथिर होत,
तबै वह मुनिपद पूरो परसत है ॥६९॥

दोहा।

परम-सुगुरु अरहंत जिन, तथा अचारज जान।
जिनपै इन दिच्छा गही, तिनहिं नमै थुति ठान ॥७०॥

मुनि व्रत क्रिया गहन करै, ताहीमें थिर होय।
तब मुनिपद पूरन लहै, दरवित भावित दोय ॥७१॥

रागादिक विनु आपको, लखै सिद्ध समतूल।
परमसमायिककी दशा, तब सो लहै अतूल ॥७२॥

प्रतिक्रमन आलोचना, प्रत्याख्यान जितेक ।
जति मति श्रुति अनुसार सौ, धारै सहितविवेक ॥ ७३ ॥

तीनोंकालविषैं सो मुनि, तीनों जोग निरोध ।
निज शुद्धातम अनुभवै, वरजित क्रियाविरोध ॥ ७४ ॥

तब मुनिपदपूरन तिन्हें, दरवित भावित जान ।
वृन्दावन वंदन करत, सदा जोरि जुग पान ॥ ७५ ॥

(८-९) गाथा—२०८-२०९ श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापनके योग्य है सो कहते हैं ।

मनहरण ।

महाव्रत पंच पंच समिति सु संच पंच,
इन्द्रिनिको वंच केश लुंचत विराजै है ।
षडावश्य क्रिया दिगअम्बर गहिया जल,
न्हौंन त्यागि दिया भूमिसैन रैन साजै है ॥
दाँतवन करै नाहिं खड़े ही अहार करै,
सोऊ एकै वार प्रान धारनके काजै है ।
येई अठाईस मूलगुन मुनि पदवीके,
निश्चैकरि कही जिनराज महाराजै है ॥ ७६ ॥

तेई मूलगुनविषैं मुनि जो प्रमादी होय,
तवै ताकै संजमको छेद भंग होत है ।
तहां सो अचारज पै जायके प्रनाम करि,
मुनिमंडलीके मध्य कहै दोष खोत है ॥
जातैं येई गुन सर्व निर्विकल्प सामायिक,
भावरूप मुनिपदवीके मूल जोत है ।

तातैं जैसे प्राछित बतावै गुरु तैसे करैं,
फेरि तामें थित होत करत उदोत है ॥७७॥

सोना अभिलाषीको जितेक आभरन ताके,
सर्वही गहन जोग जातैं सर्व सोना है ।
परजाय विना कहूं दरव रहत नाहिं,
तातैं दर्वगाहीको समस्त ही सलोना है ॥
तैसे मुनिपदवीके मूल अठाईस गुन,
मुनिपद धारैं ताको सर्वभेद होना है ।
एको गुन घटै तबै मुनिपद भंग होय,
ऐसो जानि सर्वमाहिं सावधान होना है ॥७८॥

(१०) गाथा–२१० श्रमणके दीक्षादातावत् छेदोपस्थापक दूसरा भी होता है यह कथन ।

छप्पय ।

तिनको मुनिपद गहनविषैं, जे प्रथमाचारज ।
सो गुरुको है नाम, प्रवृज्यादायक आरज ॥
अरु जब संजम छेद, भंग होवै तामाहीं ।
जो फिर थापन करै, सो निरयापक कहवाहीं ॥
यों दोय भेद गुरुके तहां, दिच्छादायक एक ही ।
छेदोपस्थापनके सुगुरु, बाकी होंहिं अनेक ही ॥७९॥

दोहा ।

दिच्छा गहने बाद जो, संजम होवै भंग ।
एकदेश वा सर्व ही, ऐसो होय प्रसंग ॥८०॥

तामें फिर जो थिर करहिं, जतिपथरीतिप्रमान ।
ते निर्यापक नाम गुरु, जानो श्रमन सयान ॥ ८१ ॥

(११-१२) गाथा—२११-२१२ छिन्न संयमके प्रतिसंधानकी विधि ।

छप्पय ।

जो मुनि जतनसमेत, कायकी क्रिया अरंभत ।
शयनासन उठि चलन, तथा जोगासन थंभत ॥
तहँ जो संजम घात होय, तब सो मुनिराई ।
आपु अलोचनसहित, क्रियाकरि शुद्धि लहाई ॥
यह बाहिज संजम भंगको, आपुहि आप सुदण्डविधि ।
करि शुद्ध होहिं आचारमें, जे मुनिवृन्द विशुद्धनिधि ॥ ८२ ॥

जिस मुनिका उपयोग, सुघटमें भंग भया है ।
रागादिक मल भाव, रतनमें लागि गया है ॥
तिनके हेत उपाय, जो जिनमारगकेमाहीं ।
जती क्रियामें अतिप्रवीन, मुनिराज कहाहीं ॥
तिनके ढिग जाय सो आपनो, दोष प्रकाशै विनय कर ।
जो कहैं दंड सो करै तिमि, तब है शुद्धाचारधर ॥ ८३ ॥

(१३) गाथा—२१३ परद्रव्य-प्रतिबंधका परिहार और श्रामण्यमें वर्तन ।

मनहरण ।

जाके उर आतमीक ज्ञानजोति जगी वृन्द,
आपहीमें आपको निहारै तिहूँपनमें ।

संजमके घातकी न बात जाके बाकी रहै,
समतासुभाव जाको आवे न कथनमें ॥
सदाकाल सर्व परदर्वनिको त्यागैं रहै,
मुनिपदमाहिं जो अखंड धीर मनमें ।
ऐसो जब होय तब चाहै गुरु पास रहै,
चाहै सो विहार करै जथाजोग वनमें ॥८४॥

(१४) गाथा-२१४ श्रामण्यकी परिपूर्णताका स्थान होनेसे स्वद्रव्यमें ही लीनताका उपदेश ।

सम्यकदरशनादि अनंतगुननिजुत,
ज्ञानके सरूप जो विराजै निजआतमा ।
ताहीमें सदैव परिवर्तत रहत और,
मूलगुनमें है सावधान बातबातमा ॥
सोई मुनि मुनिपदवीमें परिपूरन है,
अंतरंग बहिरंग दोनों भेद भांतमा ।
नहीं अविकारी परदर्व परिहारी वृन्द,
वरै शिवनारी जो विशुद्ध सिद्ध जातमा ॥ ८५ ॥

(१५) गाथा-२१५ मुनिको सूक्ष्म परद्रव्य प्रतिबंध भी श्रामण्यके छेदका आयतन होनेसे निषेध्य है ।

भोजन उपास औ निवास जे गुफादि कहे,
अथवा विहारकर्म जहां आचरत हैं ।
तथा देहमात्र परिग्रह जो विराजै और,
गुरु शिष्य आदि मुनिसंग विचरत हैं ॥

और पुग्गलीक वृन्द वैनकी उमंगमाहिं,
चरचा अनेक धर्मधारा वितरत हैं ।
येते परदर्वनिको बन्यौ सनबंध तऊ,
महामुनि ममता न तासमें धरत हैं ॥ ८६ ॥

दोहा ।

जो इनमें ममता धरैं, तजि समतारस रंग ।
तवही शुद्धपयोगमें, मुनिपदवी है भंग ॥ ८७ ॥
तातैं विगतविकार मुनि, वीतरागता धार ।
संगसहित वरतैं तऊ, निजरसलीन उदार ॥ ८८ ॥

(१६) गाथा-२१६ छेदका स्वरूप ।

मनहरण ।

जतनको त्यागिकै जु मुनि परमादी होय,
आचरन करै विवहार काय करनी ।
सैनासन बैठन चलन आदि ताकेविषैं,
चंचलता धारै जो अशुद्धताकी धरनी ॥
तामें सर्वकाल ताको निरंतर हिंसा होत,
ऐसे सरवज्ञ वीतरागदेव वरनी ।
जातैं निज शुद्धभावघातकी बड़ी है हिंसा,
तातैं सावधानहीसों शुद्धाचार चरनी ॥ ८९ ॥

दोहा ।

जब उपयोग अशुद्धकी, होत प्रबलता चित्त ।
तब ही विना जतन मुनी, क्रिया करै सुनि मित्त ॥ ९० ॥

तहां शुद्धउपयोगको, होत निरंतर घात ।
हिंसा वड़ी यही कही, यातैं मुनिपद घात ॥ ९१ ॥
तातैं जतन समेत निज, शुद्धपयोग सुधार ।
सावधान वरतौ सुमुनि, तो पावो भवपार ॥ ९२ ॥

(१७) गाथा–२१७ छेदके दो प्रकार अंतरंग-वहिरंग ।

छप्पय ।

जतन त्यागि आचरन करत, जो मुनिपदधारी ।
तहां जीव कोइ मरहु, तथा जीवहु सुखकारी ॥
ताकहँ निहचै लगत, निरंतर हिंसादूषन ।
वह घातत निजज्ञानप्रान, जो चिद्गुनभूषन ॥
अरु जो मुनिसमितिविषैं सुपरि, वरतत हैं तिनके कही ।
तनक्रियामाहिं हिंसा लगै, तऊ वंध नाहीं लही ॥ ९३ ॥

दोहा ।

हिंसा दोय प्रकार है, अंतर वाहिजरूप ।
ताको भेद लिखों यहां, ज्यों भाषी जिनभूप ॥ ९४ ॥
अंतरभाव अशुद्धसुकरि, जो मुनि वरतत होय ।
घातत शुद्धसुभाव निज, प्रबल सुहिंसक सोय ॥ ९५ ॥
अरु बाहिज विनु जतन जो, करै आचरन आप ।
तहँ परजियको घात हो, वा मति होहु कदाप ॥ ९६ ॥
अंतर निजहिंसा करै, अजतनचारी धार ।
ताको मुनिपद भंग है, यह निहचै निरधार ॥ ९७ ॥
जे मुनि शुद्धपयोगजुत, ज्ञानप्रान निजरूप ।
ताकी इच्छा करत नित, निरखत रहत सुरूप ॥ ९८ ॥

तिनकी कायक्रिया सकल, समितिसहित नित जान ।
तहँ पर कहूँ मरै तऊ, करम न बँधे निदान ॥९९॥

(१८) गाथा–२१८ अंतरंग छेदका सर्वथा निषेध ।

मनहरण ।

जतनसमेत जाको आचरन नाहीं ऐसे,
मुनिको तो उपयोग निहचै समल है ।
सो तो षटकायजीव बाधाकरि बाँधै कर्म,
ऐसे जिनचंद वृन्द भाषत विमल है ॥
और जो मुनीश सदाकाल मुनिक्रियाविषैं,
सावधान आचरन करत विमल है ।
तहाँ घात होत हू न बँधै कर्मबंध ताकैं,
रहै सो अलेप जथा पानीमैं कमल है ॥१००॥

(१९) गाथा–२१९ परिग्रहरूप उपाधिको एकान्तिक अंतरंग छेदत्व होनेसे उपाधि अंतरंग छेदवत् त्याज्य है, यह उपदेश करते हैं ।

कायक्रियामाहिं जीवघात होत कर्मबंध,
होहु वा न होहु यहां अनेकांत पच्छ है ।
पै परिग्रहसों ध्रुवरूप कर्मबंध बँधै,
यह तो अबाधपच्छ निहचै विलच्छ है ॥
जातैं अनुराग विना याको न गहन होत,
याहीसेती भंग होत संजमको कच्छ है ।
ताहीतैं प्रथम महामुनि सब त्यागैं संग,
पावैं तब उभैविधि संजम जो स्वच्छ है ॥१०१॥

अंतरके भाव विना कायहीकी क्रियाकरि,
संगको गहन नाहिं काहू भांति होत है ।
अरहंत आदिने प्रथम याको त्याग कीन्हों,
सोई मग मुनिनिकों चलिवो उद्योत है ।
शुद्धभाव घानो भावै रातो परिग्रहमाहिं,
दोऊ शुद्धसंजमको घाति मूल खोत है ॥
ऐसो निरधार तुम थोरेहीमें जानो वृन्द,
याके धारे जागै नाहिं शुद्ध ज्ञानजोत है ॥१०२॥

(२०) गाथा–२२० इस उपाधि–परिग्रहका निषेध अंतरंग छेदका ही निषेध है ।

रूप सवैया ।

अंतर चाहदाह परिहरकरि, जो न तजै परिगहपरसंग ।
सो मुनिको मन होय न निरमल, संजम शुद्ध करत वह भंग ॥
मन विशुद्ध विनु करम कटैं किमि, जे प्रसंगवश बंधे कुढंग ।
तातैं तिलतुप मित हु परिग्रह, तजहिं सरव मुनिवर सरवंग ॥१०३॥

(२१) गाथा–२२१ उपाधि (परिग्रह) एकान्तिक अंतरंग छेद है ।

मनहरण ।

कैसे सो परिग्रहके होत संत अंतरमें,
ममता न होय यह कहां संभवत है ।
कैसे ताके हेतसों उपाय न अरंभै औ,
असंजमी अवस्थाको सो कैसे न पवत है ॥

तथा परदर्व विषैं रागी भयौ कैसे तब,
शुद्धातम साधै सुधा रस भोगवत है ।
यातैं वीतरागी होय त्यागि परिग्रह निरारंभ,
होय शुद्धरूप साधो सिखव्रत है ॥१०४॥

दोहा ।

परिगहनिमित्त ममत्तता, जो न हियेमहँ होय ।
तब ताको कैसे गहै, देखो मनमें टोय ॥१०५॥
परिगह होते होत ध्रुव, ममता और अरंभ ।
सो घातत सुविशुद्धमय, जो मुनिपद परवंभ ॥१०६॥
तातैं तिलतुष परिमित हु, तजौ परिग्रह मूल ।
इहि जुत जानों सुमुनिपद, ज्यों अकाशमें फूल ॥१०७॥
तातैं शुद्धातम विषैं, जो चाहो विश्राम ।
तो सब परिगहत्यागि मुनि, होहु लहो शिवधाम ॥१०८॥

(२२) गाथा—२२२ अनिषिद्ध भी उपाधि है ।

चौपाई ।

गहन-तजन-मग सेवनहारे । जे मुनि सुपरविवेक सुधारे ॥
सो जिस परिगह धारन कीने । होय न भंग जु मुनिपद लीने ॥१०९॥
देशकालको लखिके रूपं । वरतहु जिमि भाषी जिनभूपं ॥
अट्ठाईस मूलगुनमाहीं । दोष कदापि लगै जिमि नाहीं ॥११०॥

दोहा ।

इन शंका कोई करत, मुनिपद तो निरगंथ ।
तिनहिं परिग्रहगहन तुम, क्यों भाषैत हौ पंथ ॥१११॥

मुनिमग दोय प्रकार कहि, प्रथमभेद उतसर्ग ।
दुतिय भेद अपवाद है, दोउ साधत अपवर्ग ॥११२॥

चौपाई ।

मुनि उतसर्ग-मार्गकेमाहीं । सकल परिग्रह त्याग कराहीं ॥
जातैं तहां एक निजआतम । सोई गहनजोग चिद्गातम ॥११३॥

तासों भिन्न और पुद्गलगन । तिनको तहां त्याग विधिसों भन ॥
शुद्धपयोगदशा सो जानौ । परमवीतरागता प्रमानौ ॥११४॥

अब अपवाद सुमग सुनि भाई । जाविधिसों जिनराज बताई ॥
जब परिग्रहतजि मुनिपद धरई । जथा जातमुद्रा आदरई ॥११५॥

तब वह वीतरागपद शुद्धी । ततखिन दशा न लहत विशुद्धी ॥
तब सो देशकाल कहँ देखी । अपनी शकति सकल अवरेखी ॥११६॥

निज शुद्धोपयोगकी धारा । जो संजम है शिवदातारा ॥
तासु सिद्धिके हेत पुनीती । जो शुभरागसहित मुनिरीती ॥११७॥

गहै ताहि तब ताके हेतो । बाहिजसंजम साधन लेतो ॥
जे मुनिपदवीके हैं साधक । मुनिमुद्राके रंच न बाधक ॥११८॥

शुद्धपयोगसुधारन कारन । आगम-उकत करैं सो धारन ॥
दया ज्ञान संजम हित होई । अपवादी मुनि कहिये सोई ॥११९॥

(२३) गाथा—२२३ उसका स्वरूप ।

मनहरण ।

जौ न परिग्रह कर्मबन्धको करत नाहिं,
असंजमवंत जाको जाँचै न कदाही है ।

ममता अरंभ आदि हिंसासों रहित होय,
सोऊ थोरो मुनिहीके जोग ठहराहीं है ॥
दया ज्ञान संजमको साधक सदीव दीखै,
संजम सरागहीमें जाकी परछाहीं है ।
अपवादमारगी मुनिको उपदेश यही,
ऐसो परिग्रह तुम राखो दोष नाहीं है ॥१२०॥

दोहा ।

यामें हेत यही कहत, पीछी पोथी जानु ।
तथा कमंडलुको गहन, यह सरधा उर आनु ॥१२१॥
शुभपरनति संजमविषैं, इनको है संसर्ग ।
ताहीतैं इनको गहत, अपवादी मुनिवर्ग ॥१२२॥

(२४) गाथा—२२४ उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद नहीं ।

अहो भव्यवृन्द जहां मोक्षअभिलाषी मुनि,
देहहूको जानत परिग्रह प्रमाना है ।
ताहूसों ममत्तभाव त्यागि आचरन करै,
ऐसे सरवज्ञवीतरागने बखाना है ॥
तहां अब कहो और कौन सो परिग्रहको,
गहन करेंगे जहां त्यागहीको वाना है ।
ऐसो शुद्ध आतमीक पमधर्मरूप उत-सर्गमुनि,
मारगको फहरै निशाना है ॥१२३॥

(२५) गाथा—२२५ अपवाद कौनसा भेद है !

कायाको अकार जथाजात मुनिमुद्रा धरै,
एक तो परिग्रह यही कही जिनंद है ।

फेर गुरुदेव जो सुतत्त्व उपदेश करैं,
　　सोऊ पुग्गलीक वैन गहत अमंद है ॥
बड़ेनिके विनैमें लगावै पुग्गलीक मन,
　　तथा श्रुति पढ़ै जो सुपुग्गलको छंद है ।
येते उपकर्न जैनपंथमें हैं मुनिनिके,
　　तेऊ सर्व परिग्रह जानो भविवृन्द है ॥१२४॥

दोहा ।

एक शुद्धनिजरूपतैं, जेते भिन्न प्रपंच ।
ते सब परिग्रह जानिये, शुद्धधर्म नहिं रंच ।१२५।
तातैं इनको त्यागिके, गहो शुद्ध उपयोग ।
सो उतसर्ग-सुमग कहो, जहँ सुभावसुखभोग ॥१२६॥

(२६) गाथा—२२६ शरीर मात्र परिग्रह ।

मनहरण ।

जैसे घटपटादि विलोकिवेको भौनमाहिं,
　　दीपविषैं तेल घालि वाती सुधरत है ।
तैसें ज्ञानजोतिसों सुरूपके निहारिवेको,
　　आहार-विहार जोग कायाकी करत है ॥
यहां सुखभोगकी न चाह परलोकहूके,
　　सुख अभिलाषसों अवंध ही रहत है ।
रागादि कपायनिकों त्यागे रहै आठों जाम,
　　ऐसो मुनि होय सो भवोदधि तरत है ॥१२७।

(२७) गाथा–२२७ युक्ताहार विहारी साक्षात् अनाहार विहारी ही हैं ।

जाको चिनमूरत सुभावहीसों काहू काल,
काहू परदर्वको न गहै सरधानसों ।
यही ताके अंतरमें अनसन शुद्ध तप,
निहचै विराजै वृन्द परम प्रमानसों ॥
जोग निरदोष अन्न भोजन करत तऊ,
अनाहारी जानो ताको आतमीक ज्ञानसों ।
तैसे ही समितिजुत करत विहार ताहि,
अविहारी मानो महामुनि परधान सो ॥१२८॥

(२८) गाथा–२२८ मुनिके युक्ताहारित्व कैसे सिद्ध होता है ?

मुनि महाराजजूके केवल शरीरमात्र,
एक परिग्रह यह ताको न निपेध है ।
ताहूसों ममत्व छाँरि वीतरागभाव धारि,
अजोग अहारादिको त्यागैं ज्यों अमेध है ॥
नाना तपमाहिं ताहि नितही लगाये रहैं,
आतमशकतिको प्रकाशत अवेध है ।
सोई शिवसुन्दरी स्वयंवरी विधानमाहिं,
मुनि वर होय वृन्द 'राधाबेध' वेध है ॥१२९॥

(२९) गाथा–२२९ युक्ताहारका विस्तारसे वर्णन ।

एक बार ही अहार निश्चै मुनिराज करैं,
सोऊ पेट भरैं नाहिं ऊनोदरको गहै ।

जैसो कछू पावैं तैसो अंगीकार करैं वृन्द,
मिच्छा आचरनकरि ताहूको नियोग है ॥
दिनहीमें खात रस आस न धरात मधु,
मांस आदि सरवथा त्यागत अजोग है ।
देहनेह त्यागि शुद्ध संजमके साधनको,
ऐसोई अहार शुद्ध साधुनिके जोग है ॥१२०॥

चौपाई ।

एकै वार अहार वखाने । तासुहेत यह सुनो सयाने ॥
मुनिपदकी सहकारी काया । तासु सुथित यातैं दरसाया ॥१२१॥

अरु जो वारवार मुनि खाई । तवहि प्रमाददशा वढ़ि जाई ।
दरवभावहिंसा तव लागे । संजमशुद्ध ताहि तजि भागै ॥१२२॥

सोऊ रागभाव तजि लेई । तव सो जोग अहार कहेई ॥
तातैं वीतरागताधारी । ऐसे साधु गहैं अविकारी ॥१२३।

जो भरि उदर करै मुनिभोजन। तो ह्वै शिथिल न सधै प्रयोजन ॥
जोगमाहिं आलस उपजावै । हिंसा कारन सोउ कहावै ॥१२४॥

तातैं ऊनोदर आहारो । रागरहित मुनिरीति विचारो ॥
सोई जोग अहार कहा है । संजमसाधन साध गहा है ॥१२५॥

जथालाभको हेत विचारो। आपु कराय जु करैं अहारो ॥
तव मनवांछित भोजन करई । इन्द्रियराग अधिक उर धरई ॥१२६॥

हिंसा दोष लगै ध्रुव ताके । संजमभंग होहिं सव वाके ॥
तातैं जथालाभ आहारी । मुनिकहँ जोग जानु निरधारी ॥१२७॥

मिच्छाकरि जो असन बखानै। तहां अरंभ दोष नहिं जानै ॥
ताहूमें अनुराग न धरई। सोई जोग अहार उचरई ॥१३८॥

दिनमें भलीभांति सब दरसत। दया पलै हिंसा नहिं परसत ॥
रैन असन सरवथा निषेधी। दिनमें जोग अहार अवेधी ॥१३९॥

जो रस आस धरै मनमाहीं। तो अशुद्ध उर होय सदाही ॥
अंतरसंजमभाव सु घाते। तातैं रस इच्छा तजि खाते ॥१४०॥

मद्य मांस अरु शहद अपावन। इत्यादिक जे वस्तु घिनावन ॥
तिनको त्याग सरवथा होई। सोई परम पुनीत रसोई ॥१४१॥

सकलदोष तजि जो उपजै है। सोई जोग अहार कहै है ॥
बीतरागता तन सो धारी। गहै ताहि मुनिवृन्द विचारी ॥१४२॥

(३०) गाथा-२३० उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणकी सुस्थितताका उपदेश।

द्रुमिला।

जिन बालपने मुनि भार धरे, अथवा जिनको तन वृद्ध अती।
अथवा तप उग्रतैं खेद जिन्हें, पुनि जो मुनिको कोउ रोग हती ॥
तब सो मुनि आतमशक्ति प्रमान, चरो चरिया निजजोग गती।
गुनमूल नहीं जिमि घात लहै, सो यही जतिमारग जानु जती ॥

दोहा।

अति कठोर आचरन जहँ, संजमरंग अभंग।
सोई मग उतसर्गजुत, शुद्धसुभाव-तरंग ॥१४४।

ऐसी चरिया आचरैं, तेई मुनि पुनि मीत।
कोमलमगमें पग धरैं, देखि देहकी रीत ॥१४५।

निज शुद्धातमतत्त्वकी, जिहि विधि जानै सिद्ध ।
सोई चरिया आचरैं, अनेकांतके वृद्ध ॥१४६॥

अरु जे कोमल आचरन, आचरहीं अनगार ।
पुनि निज शकति लखि, करहिं कठिन आचार ॥१४७॥

मभंग न होय जिमि, रहैं मूलगुन संग ।
ातममें थिति बढ़े, सोइ मग चलहि अभंग ।१४८।

ठन क्रिया उतसर्गमग, कोमलमग अपवाद ।
ों मग पग धारहीं, सुमुनि सहित मरजाद ॥१४९॥

जैसी तनकी दशा, देखहिं मुनि निरग्रंथ ।
तैसी चरिया चरैं, सहित मूलगुन पंथ ॥१५०॥

दोनों मगके विषैं, होय विरोध प्रकास ।
मुनिमारग नहिं चलैं, समुझो वुद्धिविलास ॥१५१॥

। दोनों पगसों चलत, मारग कटत अमान ।
दोनों मग पग धरत, मिलत वृन्द शिवथान ॥१५२।

गाथा—२३१ उत्सर्ग अपवादके विरोध (अमैत्री)से आचरणकी दुःस्थिरता होती है ।

मनहरण ।

नानाभांति देशको सुभाव पहिचानि पुनि,
शीतग्रीषमादिरितु ताहूको परखिकै ।
तथा कालजनित सु खेदहूको वेदि औ,
उपासकी शकति वृन्द ताहूको निरखिकै ॥

येई भेद भली भाँति जानकरि अहो मुनि,
आहारविहार करो संजम सु रखिकैं ।
जामें कर्मबन्ध अल्प बँधै ताही विधिसेती,
आचरन करो अनेकांत रस चखिकैं ॥१५३॥

चौपाई ।

जे उतसर्गमार्गके धारी । ते देंशरु कालादि निहारी ॥
बाल वृद्ध खेदित रुजमाहीं । मुनि कोमल आचरनकराहीं ॥१५४॥
जामें संजम भंग न होई । करमप्रबन्ध बन्धै लघु सोई ॥
शकति लिये न मूलगुन घातै । यहु मग तिनको उचित सदातै ॥१५५॥
अरु जे अपवादिकमग ध्याता । सब विधि देशकालके ज्ञाता ॥
ते मुनि चारिहु दशामँझारी । होउ सुजोग अहारविहारी ॥१५६॥
संजमरंग भंग जहँ नाहीं । ताही विधि आचरहु तहाँ ही ॥
शकति न लोपि न मूलहु घातो । अलपबंधकी क्रिया करातो ॥१५७॥

दोहा ।

कोमल ही मगके विषैं, जो इकंत बुधि धार ।
अनुदिन अनुरागी रहै, अरु यह करै विचार ॥१५८॥
कोमलहू मग तो कही, जिन सिद्धांत मँझार ।
हम याही मग चलहिंगे, यामें कहा बिगार ॥१५९॥
तो वह हठग्राही पुरुष, संजमविमुख सदीव ।
शकति लोपि करनी करत, शिथिलाचारी जीव ॥१६०॥
ताको मुनिपद भंग है, अनेकांतच्युत सोय ।
बाँधै करम विशेष सो, शुद्ध सिद्ध किमि होय ॥१६१॥

अरु जे कठिनाचार ही, हठकरि सदा करात ।
कोमल मग पग धारतें, लघुता मानि लजात ॥१६२॥

देशकालवपु देखिकै, करहिं नाहिं आचार ।
अनेकांतसों विमुख सो, अपनो करत विगार ॥१६३॥

वह अतिश्रमतैं देह तजि, उपजै सुरपुर जाय ।
संजम अम्रत वमन करि, करम विशेष बँधाय ॥१६४॥

तातैं करम बँधे अलप, सधे निजातम शुद्ध ।
सोई मग पग धारिवो, संजम सहित विशुद्ध ॥१६५॥

है सरवज्ञ जिनिंदको, अनेकांत मत मीत ।
तातैं दोनों पंथसों, हे मुनि राखो रीत ॥१६६॥

कहुं कोमल कहुँ कठिन व्रत, कहुँ जुगजुत वरतंत ।
शुद्धातम जिहि विधि सधै, वह मुनिमग सिद्धंत ॥१६७॥

संजमभंग बचायकै, देश काल वपु देखि ।
कोमल कठिन क्रिया करो, करम न बँधै विशेखि ॥१६८॥

अरु अस हठ मति राखियो, संजम रहै कि जाहि ।
हम इक दशा न छाँड़ि हैं, सो यह जिनमत नाहि ॥१६९॥

जैसो जिनमत है सोई, कहो तुम्हैं समुझाय ।
जो मगमें पग धारि मुनि, पहुंचे शिवपुर जाय ॥१७०॥

कहूं अकेलो है यही, जो मारग अपवाद ।
कहूं अकेलो लसतु है, जो उतसर्ग अनाद ॥१७१॥

कहुं उतसर्गसमेत है, यहु मारग अपवाद ।
कहुं अपवादसमेत है, मगउतसर्ग अवाद ॥१७२॥

ज्यों संजमरच्छा बनत, त्यों ही करहिं मुनीश ।
देशकालवपु देखिकै, साधहिं शुद्ध सुईश ॥१७३॥
पूरव जे मुनिवर भये, ते निजदशा निहार ।
दोनों मगकी भूमिमें, गमन किये सुविचार ॥१७४॥
पीछे परमुतकिष्ट पद, ताहि ध्याय मुनिराय ।
क्रियाकांड तैं रहित है, शुद्धातम लव लाय ॥१७५॥
निज चैतन्यस्वरूप जो, है सामान्य विशेष ।
ताहीमें थिर होयके, भये शुद्ध सिद्धेश ॥१७६॥
जो या विधिसों और मुनि, है सुरूपमें गुप्त ।
सो निजज्ञानानंद लहि, करै करमको लुप्त ॥१७७॥
यह आचारसुविधि परम, पूरन भयौ अमंद ।
मुनिमगको सो जयति जय, वंदत वृन्द जिनिंद ॥१७८॥

अधिकारान्तमंगल ।

मंगलदायक परमगुरु, श्रीसरवज्ञ जिनिंद ।
वृन्दावन वंदन करत, करो सदा आनंद ॥१७९॥

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्रीप्रवचनसारजीकी वृन्दावन अग्रवाल काशीवासीकृत भाषाविषैं आचारविधिचारित्राधिकार नामा सातवां अधिकार सम्पूरन भया ।

मिति पौष शुक्ल अष्टमी ८ मंगलवार सं. १९०५ पांच काशीमध्ये निजहस्ते लिखितं वृन्दावनेन स्वपरोपकाराय । इहां ताईं सर्वगाथा २३२ अर भाषाके सर्व छंद ९०६ नवसे छह सो जयवंत होहु । श्रीरस्तु मंगलमस्तु ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

अथाष्टम एकाग्ररूपमोक्षमार्गाधिकारः ।

मंगलाचरण—दोहा ।

सिद्धशिरोमनि सिद्धपद, वंदों सिद्ध महेश ।
सो इत नित मंगल करो, मैटो विघन कलेश ॥ १ ॥
सम्यक़दरशन ज्ञान व्रत, तीनों जत्र इकत्र ।
सोई शिवमग नियतनय, है शुद्धातम तत्र ॥ २ ॥
तथा जिन्हें यह लाभ हुव, ऐसे जे मुनिराज ।
तिनहूको शिवमग कहिय, धरमी धरम समाज ॥ ३ ॥
तासु परापतिके विषैं, जिन आगमको ज्ञानि ।
अवशि चाहिये तासतैं, अभ्यासो जिनवानि ॥ ४ ॥

(१) गाथा-२३२ प्रथम मोक्षमार्गके मूल साधनभूत आगममें प्रवृत्ति ।

मनहरण ।

सम्यकदरश ज्ञान चारितकी एकताई,
येही शुद्ध तीरथ त्रिवेनी शिवमग है ।
ताकी एकताई मुनि पाई जव सुपर,
पदारथको भलीभाँति जानत उमग है ॥
ऐसो भेदज्ञान जिन-आगमहीसेती होत,
संशय विमोह ठग लागै नाहिं लग है ।
ताहीतैं जिनागम अभ्यास परधान कह्यौ,
जाकी अनेकांत जोत होत जगमग है ॥ ५ ॥

सरवज्ञभाषित सिद्धांत विनु वस्तुनिको,
जथारथ निहचै न होत सरवथा है ।
विना सर्वदर्वनिको भलीभाँति जानैं कहो,
कैसे निज आतमाको जानै श्रुति मथा है ॥
याहीतैं मुनिंदवृन्द शब्दब्रह्मको अभ्यासि,
आपरूप जानि तामें होहि थिर जथा है ।
तातैं शिवमारगको मूल जिन आगम है,
ताको पढ़ो सुनो गुनो यही सार कथा है ॥ ६ ॥

दोहा ।

जे जन जिनशासनविमुख, बहिरमुखी ते जीव ।
डाँवाडोल मिथ्यातवश, भटकत रहत सदीव ॥ ७ ॥
करता बनत त्रिलोकके, कबहुं भोगता होहि ।
इष्टानिष्ट विभावजुत, सुथिर न कबहूं सोहि ॥ ८ ॥
ज्यों समुद्रमें पवनतैं, चहुँदिशि उठत तरंग ।
त्यों आकुलतासों दुखित, लहैं न समरसरंग ॥ ९ ॥
जब अपनेको जानई, ज्ञानानंदसरूप ।
तब न कबहुं परदरवको, करता बनै अनूप ॥ १० ॥
जो आतम निज ज्ञानकरि, लोकालोक समस्त ।
प्रगट पानकरि आपमें, सुथिर रहत परशस्त ॥ ११ ।
ऐसो जो भगवान यह, चिदानन्द निरद्वंद ।
सो जिनशासनतैं लखहिं, महामुनिनिके वृन्द ॥ १२ ॥
तब ताको सरधान अरु, ज्ञान जथारथ धार ।
ताहीमें थिर होयके, पावैं पद अविकार ॥ १३ ॥

तातैं जिनआगम वड़ो, उपकारी पहिचान ।
ताको वृन्द पढ़ो सुनो, यह उपदेश प्रधान ॥ १४ ॥

(२) गाथा-२३३ आगम-हीनको मोक्ष नहीं ।

मत्तगयन्द ।

जो मुनिको नहीं आगमज्ञान, सो तो निज औ परको नहिं जानै ।
आपु तथा परको न लखै तव, क्यों करि कर्म कुलाचल भानै ॥
जासु उदै जगजाल विषैं, चिरकाल विहाल भयो भरमानै ।
तातैं पढ़ो मुनि श्रीजिनआगम, तो सुखसों पहुंचो शिवथानै ॥१५॥

कवित्त छन्द ।

जिनआगमसों दरव भाव नो, करमनिकी ह्वो है तहकीक ।
तव निजभेदज्ञानवलकरिकै, चूरै करम लहै शिव ठीक ॥
तिस:आगमतैं विमुख होयकैं, चहै जो शिवसुख लहौं अधीक ।
सो अजान विनु तत्त्वज्ञान नित, पीटत मूढ़ सांपकी लीक ॥१६॥
आगमज्ञान रहित नित जो मुनि, कायकलेश करै तिरकाल ।
ताको सुपरभेद नहिं सूझत, आगम तीजा नयन विशाल ॥
तव तहँ भेदज्ञान विनु कैसे, चलैं शुद्ध शिवमारग चाल ।
सो विपरीत रीतकी धारक, गावत तान ताल विनु ख्याल ॥१७॥

दोहा ।

ज्यों ज्यों मिथ्यामग चलै, त्यों त्यों वंधै सोय ।
ज्यों ज्यों भींजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय ॥१८॥

(३) गाथा-२३४ मोक्षमार्गीको आगम ही एक चक्षु है ।

सोरठा ।

आगमचक्षू साध, अक्षचक्ष जगजीव सब ।
देव औधदृग लाध, सिद्ध सर्वचक्षू विमल ॥ १९ ॥

तातैं यह उर आनि, अनेकान्त जाकी धुजा ।
सो आगम पहिचानि, पढ़ो सुनो भवि वृन्द नित ॥२०॥
आगम ही हैं नैन, शिवसुखइच्छुक मुनिनिके ।
यों भाषी - जिनवैन, स्वपरभेदविज्ञानप्रद ॥२१॥

(४) गाथा—२३५ आगमचक्षुसे सब कुछ दिखाई देता है।

माधवी ।

जिनआगममें सब दर्वनिको, गुन पर्ज विभेद भली विधि साधा ।
तिस आगमहीतैं महामुनि देखकै, जानै जथारथ अर्थ अगाधा ॥
तब भेदविज्ञान सुनैन प्रमान, निजातम वृन्द लहै निरबाधा ।
अपने पदमें थिर होकरिके, अरिको हरिके सु वरै शिवराधा ॥२२॥

जिनवाणी महिमा—मनहरण ।

एक एक दर्वमें अनंतनंत गुन पर्ज,
नित्यानित्य लच्छनसों जुदे जुदे धर्म है ।
ताको जिनवानी ही अबाधरूप सिद्ध करै,
हरै महा मोहतम अंतरको भर्म है ॥
ताहीकी सहायतैं सु भेदज्ञाननैन खोलि,
जानैं महामुनि शुद्ध आतमको मर्म है ।
सोई जगदंबको अलम्ब करै वृन्दावन,
त्यागिकै विलम्ब सदा देत पर्म शर्म है ॥२३॥

(५) गाथा—२३६ आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयमभावकी युगपतता होना ही मोक्षमार्ग है।

प्रथम जिनागम अभ्यासकरि यहां जाके,
सम्यकदरश सरधान नाहिं भयौ है ।

ताके दोऊ भांतिको न संजम विराजै कहूं,
ऐसे जिनभाषित सुवेद वरनयौ है ॥
संजम सुभावसों रहित जब भयौ तब,
निहचै असंजमीकी दशा परिनयौ है ।
कैसे तब ताको मुनिपद सोहै वृन्दावन,
सांची गैल छांडिके सो कांची [१]गैल लयौ है ॥२४॥

दोहा ।

प्रथम जो आगमज्ञानतैं, रहित होय सरधान ।
भेदज्ञान विनु किमि करैं, सो निजपर पहिचान ॥ २५ ॥
तब कषायसंमिलित जो, मोहराग परिनाम ।
ताके वश होकै धरौ, विषयकषाय मुदाम ॥ २६ ॥
इन्द्रीविषयनिके विषैं, सो [२]परिवरत कराय ।
छहों कायके जीवको, बाधक तब ठहराय ॥ २७ ॥
स्वेच्छाचारी जीव वह, ताको मुनिपद क्रेम ।
सर्वत्यागको है जहां, मुनिपदवीमें नेम ॥ २८ ॥
तैसे ही पुनि तासुके, निरविकलप समभाव ।
परमातम निज ज्ञानघन, सोऊ नाहिं लखाव ॥ २९ ॥
अरु जे ज्ञेयपदार्थके, हैं समूह जगमाहिं ।
तामें ज्ञान सुछंद तसु, वरतत सदा रहाहिं ॥ ३० ॥
याहीतैं निजरूपमें, होय नहीं एकत्र ।
ज्ञान [३]वृत्त चंचल रहै, परसै सुथिर न तत्र ॥ ३१ ॥

---

१. रास्ता-मार्ग । २. प्रवृत्ति । ३. चारित्र ।

आगमज्ञान सु पुव्व जहँ, होय नहीं सरधान ।
तहां न संजम संभवै, यह अबाध परमान ॥ ३२ ॥
जाके संजम होय नहिं, तब मुनिपद किमि होय ।
शिवमग दूजो नाम जसु, देखो घटमें [१]टोय ॥ ३३ ॥
तातैं आगमज्ञान अरु, तत्त्वारथसरधान ।
संजम भाव इकत्र जब, तबहिं मोखमग जान ॥ ३४ ॥

माधवी ।

जिन आगममें नित सात सुभंगकी, वृन्द अभंग धुजा फहरावै ।
जिसको लखिके मुनि भेदविज्ञानि, सुसंजमसंजुत मोच्छ सिधावै ।
तिहिको तजिके जो सुछन्दमती, अति खेद करै हठसों बहु धावै ।
वह त्यागिके सीखसुधारसको, नित ओसके बून्दसों प्यास बुझावै ।३५।

(६) गाथा-२३७ तीनोंकी एकता नहीं है उसे मोक्षमार्ग नहीं ।

मनहरण ।

आगम ही जानै कहो कहा सिद्धि होत जो न,
आपापरमाहिं सरधान शुद्ध आय है ।
तथा सरधान हूँ पदारथमें आयौ तो,
असंजमदशासों कहो कैसे मोख पाय है ॥
याहीतैं जिनागमतैं सुपरपदारथको,
सत्यारथ जानि सरधान दिढ़ लाय है ।
फेरि शुद्ध संजमसुभावमें सुथिर होय,
सोई चिदानन्द वृन्द मोक्षको सिधाय है ॥३६॥

---

१. खोजके ।

तत्त्वनिमें रुचि परतीति जो न आई तो धौं,
कहा सिद्ध होत कीन्हें आगम पठापठी ।
तथा परतीति प्रीति तत्त्वहूमें आई पै न,
त्यागे राग दोष तौ तो होत है गठागठी ॥
तबै मोखसुख वृन्द पाय है कदापि नाहिं,
तातैं तीनों शुद्ध गहु छांड़िके हठाहठी ।
जो तू इन तीन विन मोखसुख चाहै तौ तो,
सूत न कपास करै कोरीसों लठालठी ॥३७॥

(७) गाथा–२३८ तीनोंका युगपतपना होनेपर भी आत्मज्ञान (निर्विकल्प ज्ञान) मोक्षमार्गका साधक है ।

आपने सुरूपको न ज्ञान सरधान जाके,
ऐसो जो अज्ञानी ताकी दशा दरसावै है ।
जितने करमको सो विवहार धर्मकरि,
शत वा सहस्र कोटि जन्ममें खिपावै है ॥
तिते कर्मको सु आपरूपमें सुलीन होय,
ज्ञानी एक स्वासमात्र कालमें जलावै है ।
ऐसो परधान शुद्ध आतमीकज्ञान जानि,
वृन्दावन ताके हेत उद्यमी रहावै है ॥३८॥
जाके शुद्ध सहज सुरूपको न ज्ञान भयौ,
और वह आगमको अच्छर रटतु है ।
ताके अनुसार सो पदारथको जानै,
सरधानै औ ममत्त लिये क्रियाको अटतु है ॥

तहां पुब्ब खिरै नित नूतन करम बंधै,
गोरखको धंधा नटबाजीसी नटतु है ।
आगेको वटत जात पाछे [1]वछरू चवात,
जैसे [2]दृगहीन नर [3]जेवरी वटतु है ॥३९॥

जाने निजआतमाको जान्यो भेदज्ञानकरि,
इतनो ही आगमको सार अंश चंगा है ।
ताको सरधान कीनों प्रीतिसों प्रतीति भीनों,
ताहीके विशेषमें अभंग रंग रंगा है ॥
वाहीमें त्रिजोगको निरोधिके सुथिर होय,
तबै सर्वकर्मनिको क्षपत प्रसंगा है ।
आपुहीमें ऐसे तीनों साधैं वृन्द सिद्धि होत,
जैसे मन चंगा तो कठौतीमाहिं गंगा है ॥४०॥

(८) गाथा–२३९ आत्मज्ञान बिना तीनों एक साथ हो तो भी अकिंचित्कर हैं ।

माधवी ।

जिसके तन आदि विषैं ममता, वरतै परमानुहुके परमानी ।
तिसको न मिलै शिव शुद्धदशा, किन हो सब आगमको वह ज्ञानी ॥
अनुराग कलंक अलंकित तासु, चिदंक लसै हमने यह जानी ।
जिमि लोक विषैं कहनावत है, यह ताँत बजी तब राग पिछानी ॥४१॥

दोहा ।

ज्यों करमाहिं विमल फटिक, देख परत सब शुद्ध ।
त्यों मुनि आगमतैं लखहिं, सकल तत्त्व अविरुद्ध ॥ ४२ ॥

---

१. वछड़ा । २. अंधा । ३. रस्सी मांजता है ।

तसु ज्ञाता चिद्रूपको, जानि करै सरधान ।
अरु आचार हु करत सो, जतिपथरीतिप्रमान ॥ ४३ ॥
ऐसे आगम ज्ञान अरु, तत्त्वारथ सरधान ।
संजम भाव इकत्रता, यह रतनत्रयवान ॥ ४४ ॥
सो सूच्छिम हू राग जो, धरै तनादिकमाहिं ।
तिते कलंकहितैं सु तो, शिवपद पावै नाहिं ॥ ४५ ।
तातैं आगमज्ञानजुत, निरविकलप सु समाधि ।
वीतरागतासहित है, तब सब मिटै उपाधि ॥ ४६ ॥

सोरठा ।

जाके होय न ज्ञान, चिदानंद चिद्रूपको ।
सोई जीव अंयान, ममता धरै तनादिमें ॥ ४७ ॥
सो न लहै निरवान, मोह [१]गांस तसु [२]हंसपर ।
[३]गुभ्यौ गुप्त ही आन, भेदज्ञान विनु नहिं लखत ॥ ४८ ॥
तातैं हे बुधिवान, लेहु स्वरूप निहार निज ।
चिद्विलास अमलान, तामें थिर हो सिद्ध हो ॥ ४९ ॥

(९) गाथा—२४० वह तीनों आत्मज्ञानके युगपद्पनाको सिद्ध करते हैं।

सवैया—मात्रिका

जाके पंचसमिति सित सोभत, तीन गुपत उर लसत उदार ।
पंचिंद्रिनिको जो संवर करि, जीतै सकल कषाय विकार ।
सम्यकदर्श ज्ञान सम्पूरन, जाके हिये वृन्द दुतिधार ।
शुद्ध संजमी ताहि कहैं जिन, सो मुनि वरै विमल शिवनार ॥५०॥

---

१. गांसी—फांसी ।　　२. आत्मापर ।　　३. चुभा है ।

(१०) गाथा–२४१ ऐसे संयतका लक्षण ।

छप्पय ।

जो जाने समतुल्य, शत्रु अरु बंधुवर्ग निजु ।
सुखदुखको सम जानि, गहै समता सुभाव हि जु ॥
थुति निंदा पुनि लोह कनक, दोनों सम जानै ।
जीवन मरन समान मानि, आकुलदल भानै ॥
सोई मुनि वृन्द प्रधान है, समतालच्छनको धरै ॥
निज साम्यभावमें होय थिर, शुद्ध सिद्ध शिव तिय वरै ॥ ५१ ॥

(११) गाथा–२४२ एकाग्रता लक्षण श्रामण्य ।

मत्तगयन्द ।

जो जन सम्यकदर्शन ज्ञान, चरित्र विशुद्ध सुभाविकमाहीं ।
एकहि बार भली विधिसों, करि उद्यम वर्चतु है तिहि ठाहीं ॥
सो निज आतममें लवलीन, इकाग्रदशामहँ प्रापति आहीं ।
है तिनको परिपूरनरूप, मुनीश्वरको पद संशय नाहीं ॥५२॥

दोहा ।

ज्ञेय रु ज्ञायक तत्त्वको, जहां शुद्ध सरधान ।
सोई सम्यकदरश है, दूषनरहित प्रमान ॥ ५३ ॥
ताहि जथावत जानिवो, सो है सम्यकज्ञान ।
दरशज्ञानमें सुथिरता, सो चारित्र प्रधान ॥ ५४ ॥
येई तीनों भाव हैं, भावक आतम तास ।
आपहि आपु सुभावको, भावै थिर सुखरास ॥ ५५ ॥
इन भावनिके वढ़नकी, जहँ लगु हद्द प्रमान ।
तहँ लगु वढ़हिं परस्पर, सुगुनसहित गुनवान ॥ ५६ ॥

ये तिहुँ भाव सु अंग हैं, अंगी आतम तास ।
अंगी अंग सु एकता, सदा सधत सुखरास ॥ ५७ ॥
इमि एकता सुभाव जो, प्रनयौ आतम आप ।
सोई संजम भाव है, आप रूपमें व्याप ॥ ५८ ॥
सो जद्दिप तिहुँ भेदकरि, है अनेक परकार ।
तद्दिप एक स्वरूप है, निरविकलप नय द्वार ॥ ५९ ॥
जैसे एकपना त्रिविधि, मधुर आमलौ तीत ।
सुरस स्वाद तब मिलत जब, निरविकलप रसप्रीत ॥ ६० ॥
तैसे सो संजम जदपि, रतनत्रयतैं भेद ।
तदपि सुभाविक एकरस, एकै गहै अखेद । ६१ ॥
परदरवनिसों भिन्न नित, प्रगट एक निजरूप ।
ताहि सु मुनिपद कह हुआ, शिवमग कह्यो अनूप ॥ ६२ ॥
सो शिवमगको तीन विधि, परजैनयके द्वार ।
भाषतु हैं विवहारकरि, जाको भेद अपार ॥ ६३ ॥
अरु एकतासरूप जो, शिवमग वरनन कीन ।
दरवार्थिकनय द्वारतैं, सो निहचै रसलीन ॥ ६४ ॥
जेते भेदविकल्प हैं, सो सब हैं विवहार ।
अरु जो एक अभेदरस, सो निहचै निरधार ॥ ६५ ॥
ऐसो शिवमग जानिके, निज आतम हित हेत ।
हे भवि वृन्द करो गहन, जो अबाध सुख देत । ६६ ॥

(१२) गाथा—२४३ अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं ।

जिस मुनिके नहिं, सुपरभेदविज्ञान विराजै ।
अज्ञानी तसु नाम, कही जिनवर महाराजै ॥

सो परदर्वहिं पाय, राग विद्वेष मोह धरि ।
विविध करमको बन्ध, करत अपनो विकारकरि ॥
निज चिदानन्दके ज्ञान विनु, शुद्ध सिद्धपद नहिं ठरत ।
सो पाटकीटके न्यायवत, नित नूतन बन्धन वटत ॥६७॥

(१३) गाथा–२४४ मोक्षमार्ग–उपसंहार ।

सवैया—मात्रिक ।

जो मुनि आतमज्ञान वृन्द जुत, सो पर दरवनिके जे थंम ।
तिनमें मोहित होत न कबहूँ, करत न राग न दोष अरंम ।
सो निजरूपमाहिं निहचै थिर, है इकाग्र संजमजुत संम ।
सोई विविध करम छय करिके, देहि मोखमग सनमुख बंम ॥६८॥

दोहा ।

इहि प्रकार निरधार करि, भाषैं शिवमग पर्म ।
शुद्धपयोगमयी सुमुनि, गहैं लहैं शिवशर्म ॥ ६९ ॥

कवित्त—मात्रिक ।

जाके हिये मोहमिथ्यामत, हे भवि पूर रह्यौ भरपूर ।
कैसहुके न तजै हठ सो सठ, ज्यों महि गहै गोह पग भूर ॥
जो कहुं सत्य सुनै तउ उरमें, धरै न सरधा अतिहि करूर ।
ताको यह उपदेश अफल जिमि, कूकरके मुखमाहिं कपूर ॥७०॥

तातैं अब इस कथन मथनको, सुनो सार भवि धरि उपयोग ।
सम्यक दरशन ज्ञानचरितमें, सुथिर होहु जुत शुद्धपयोग ॥
यही सुमुनिपद वृन्द अनूपम, यातैं कटैं करमके रोग ।
ताकों गहो मिल्यौ यह औसर, जैसे नदी नाव संजोग ॥७१॥

अधिकारान्तमंगल—दोहा ।

पूरन भयौ सुखद परम, शिवमग शुद्धसरूप ।
बन्दों श्रीजिनदेवको, जो लहि कही अनूप ॥ ७२ ॥

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्रीप्रवचनसारजीकी वृन्दावन अग्रवाल काशीवासीकृतभाषाविषैं एकाग्ररूप मोक्षमार्गका स्वरूप कथन ऐसा आठवाँ अधिकार पूरा भया । पौष शुद्ध पूरनमासी सोमवार संवत् १९०५ ।

इहां ताईं सर्व गाथा २४५ अरु भाषाके छन्द नवसै-अठहतर ९७८ । सो जयवंत होहु । मंगलमस्तु । श्रीरस्तु ।
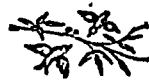
ओं नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ नवमः शुभोपयोगरूप मुनिपदाधिकारः।

मंगलाचरण—दोहा ।

श्रीजिनवानी सुगुरु पद, वंदौं शीस नवाय ।
सकल विघन जातें मिटैं, भविक वृन्द सुखदाय ॥ १ ॥
अब बरनत शुभभावजुत, मुनि पदवीकी रीति ।
श्रुति मथि गुरु संछेपतैं, करो सुभवि परतीति ॥ २ ॥

(१) गाथा-२४५ शुभोपयोगी तो गौणतया श्रमण हैं ।

दो विधिके मुनि होहिं इमि, कही जिनागममाहिं ।
एक शुद्धउपयोगजुत, इक शुभमगमें जाहिं ॥ ३ ॥
जे सुविशुद्धुपयोगजुत, सदा निरास्रव तेह ।
बाकी आस्रवसहित हैं, शुभ उपयोगी जेह ॥ ४ ॥

द्रुमिला ।

जिनमारगमें मुनि दोय प्रकार, दिगम्बररूप विराजत हैं ।
इक शुद्धुपयोग विशुद्ध धरैं, जिनतैं करमास्रव भाजत हैं ॥
दुतिये शुभ भाव दशा सु धरैं, तिनके करमास्रव छाजत हैं ।
यह भाविक भेद सनातनतैं, जिनआगम या विधि गाजत हैं ॥ ५ ॥
सबही परदर्वनिसों ममता, तजिके मुनिको व्रत धीर धरैं ।
चित चंचल अंश कषाय उदै, नहिं आतम शुद्ध प्रकाश करैं ॥

मुनि शुद्धपयोगिनिके ढिगमें, पुनि जे वरतैं अनुराग भरैं ।
कहिये अब ते मुनि हैं कि नहीं, इमि पूछत शिष्य विनीत वरैं ॥ ६ ॥

दोहा ।

याको उत्तर प्रथमही, ग्रंथारम्भतमाहिं ।
कहि आये हम हैं भविक, पुनै समुझो इहि ठाहिं ॥ ७ ॥

माधवी ।

[१]निज धर्मसरूप जवै प्रनवै, यह आतम आप अध्यातम ध्याता ।
तव शुद्धुपयोगदशा गहिके, सो लहै निरवान सुखामृत ख्याता ॥
अरु होत जहां शुभरूपपयोग, तहां सुरगादि विभौ मिलि जाता ।
यह आपुहि है अपने परिनामनिको, फल भोगनिहार विधाता ॥ ८ ॥

दोहा ।

शुभपयोगसों और पुनि, शुद्धातम निजधर्म ।
तिनसों एक अरथविषैं, है समवाय सुपर्म ॥ ९ ॥
एकातमहीके विषैं, दोनों भाव रहाहिं ।
तातैं दोनों भावको, धरम कही श्रुतिमाहिं ॥ १० ॥
याही नयतैं हे भविक, शुभ उपयोगी साध ।
तेऊ मुनि हैं पै तिन्हैं, आस्रव कर्म उपाध ॥ ११ ॥
शुद्धुपयोगीके नहीं, करमास्रवको लेश ।
ते सब कर्म विनाशिकै, होहिं शुद्ध सिद्धेश ॥ १२ ॥

---

१. यह पहले अध्यायकी ग्यारहवीं गाथाका अनुवाद है, जो कि—पहले अध्यायमें छप चुका है (पृष्ठ १९में) अन्तर इतना है कि वहाँ छन्द मत्तगयन्द था, यहाँ प्रत्येक चरणमें दो दो लघु (निज, तव, अरु, यह) डालकर माधवी बना दिया है ।

(२) गाथा—२४६ शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण ।

रूप सवैया ।

जो मुनिके उर अंतरमाहीं, यह परनति वरतै सुनि [१]भव्व ।
अरहंतादि पंचगुरुपदमें, भगत उमंग रंग रसतव्व ॥
तथा परम आगम उपदेशक, तिनसों [२]वच्छलता विनु [३]गव्व ।
सो शुभरूप कहावत [४]चरिया, यों वरनी जिनगनधर पव्व ॥१३॥

छप्पय ।

जो परिगह परिहार, सुमुनिमुद्राको धारै ।
पै कषायके अंश, तासुके उदय लगारै ॥
तातैं शुद्धस्वरूपमाहिं, थिरता नहिं पावै ।
तव पन शुद्धस्वरूप, सुगुरुसों प्रीति बढ़ावै ॥
अरु जे शुद्धातमधरमके, उपदेशक तिनमें हरखि ।
वर भक्ति सु सेवा प्रीतिजुत, बरततु है मुनिमग परखि ॥ १४ ॥

सोरठा ।

तिस मुनिके यह जानु, इतनहिं राग सु अंशकरि ।
पर दरवनिमें मानु, है प्रवृत्ति निहचैपनै ॥ १५ ॥
सो शुद्धातमरूप, ताकी थिरतासों चलित ।
यों भाषी जिनभूप, वह शुभभावचरित्रधर ॥ १६ ॥
पंच परमगुरुमाहिं, भगत सु सेवा प्रीति जहँ ।
सो शुभमग कहलाहिं, शुभ उपयोगिनिके चिह्न ॥ १७ ॥

---

१. भव्य । २. वत्सलता । ३. गर्व—अभिमान । ४. चर्या—वृत्ति ।

(३) गाथा–२४७ उनकी प्रवृत्ति ।

मनहरण ।

महामुनिराजनिकी वानीसेती थुति करै,
  कायासेती नुति करै महामोद भरी है ।
आवत विलोकि उठि खड़े होहि विनै धारि,
  चालै तब पीछै चलै शिष्यभाव धरी है ॥
तिनके शरीरमाहिं खेद काहू भाँति देखै,
  ताको दूर करै जथाजोग विसतरी है ।
सराग चरित्रकी अवस्थामाहिं मुनिनिको,
  येती क्रिया करिबो निषेध नाहिं करी है ॥ १८ ॥

दोहा ।

शुभ उपयोगी साधुको, ऐसो वरतन जोग ।
शुद्धुपयोगी सुमुनि प्रति, जहँ आतमनिधि भोग ॥ १९ ॥
जो श्रीमहामुनीशके, कहुँ उपसर्गवशाय ।
खेद होय तो सुथिर हित, वैयावृत्ति कराय ॥ २० ॥
जातैं खेद मिटै बहुरि, सुथिर होय परिनाम ।
तब शुद्धातम तत्त्वको, ध्यावैं मुनि अभिराम ॥ २१ ॥
शुद्धातमके लाभतैं, रहित जु मिथ्यातीय ।
ताकी सेवादिक सकल, यहां निषेध करीय ॥ २२ ॥

(४) गाथा–२४८ छठवें गुणस्थानमें यह प्रवृत्तियाँ हैं।

सम्यकदर्शन ज्ञान दशा, उपदेश करैं भविको भवतारी ।
शिष्य गहैं पुनि पोषहिं ताहि, भली विधिसों धरमामृतधारी ॥
श्री जिनदेवके पूजनको, उपदेश करैं महिमा विसतारी ।
है यह रीति सरागदशामहँ, वृन्द मुनिंदनिको हितकारी ॥२३॥

दोहा ।

शुद्धुपयोगीके परम, वीतरागता भाव ।
तातैं तिनके यह क्रिया, होत नाहिं दरसाव ॥ २४ ॥

(५) गाथा–२४९ यह सभी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियोंके ही होती हैं । मत्तगयन्द ।

जामहँ जीव विरोध लहै नाहिं, ताविधिसों नितही विधि ज्ञाता ।
चारि प्रकारके संघ मुनीशको, ताको करै उपकार विख्याता ॥
आपने संजमको रखिके, निहचैं सबके सुखदायक ताता ।
या विधि जो वरतैं मुनि सो, परधान सरागदशामहँ भ्राता ॥२५॥

दोहा ।

श्रावक अरु पुनि श्राविका, मुनि अरजिका प्रमान ।
येई चारों संघके, स्वामी सुमुनि सयान । २६ ॥
शुद्धातम अनुभूतिके, ये साधक चहुसंग ।
तातैं नित रच्छा कराहिं, इनकी सुमुनि उमंग । २७ ॥
वैयावृत्तादिक क्रिया, जा विधि बनै उदार ।
ताही विधिसों करत हैं, ते सराग अनगार ॥ २८ ॥
हिंसा दोप बचायके, अपनो संजम राख ।
संघानुग्रहमें रहैं, सो प्रधान मुनि भाख ॥ २९ ॥

(६) गाथा–२५० मुनित्व उचित प्रवृत्ति विरोधी नहीं, किन्तु अनुचित प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये ।

कवित्त—मात्रिक ।

जो मुनि और मुनिनिके कारन, वैयावरत करनके हेत ।
छहों कायको बाधक हो करि, उद्यमवान होय वरतेत ॥

तो सो मुनि न होय यह जानो, है वह श्रावक सुविधि समेत ।
तातैं वह अरंभजुत मारग, श्रावक धरमनाहिं छवि देत ॥२०॥

कुण्डलिया ।

तातैं जे केई सुमुनि, गहैं सराग चरित्त ।
ते परमुनिको खेद लखि, ठानौ वैयावृत्त ॥
ठानौ वैयावृत्त तहां, निज संजम राखो ।
परकी करो सहाय; जथा जिनश्रुतिमें भाखो ॥
षटकाया अविरोध, क्रिया गृहनथ्य करातैं ।
मुनिको सुपद बचाय, उचित पर हित कृत तातैं ॥२१॥

(७) गाथा–२५१ किनके प्रति उपकारकी प्रवृत्ति योग्य है? और किनके प्रति नहीं:—

माधवी ।

जिनशासनके अनुसार धरें व्रत, जे मुनिराय तथा गृहवासी ।
तिनको उपकार करो सु दया धरि, त्यागि हिये फलकी अभिलासी ॥
इहि भाँति किये जदि जो तुमको, शुभकर्म बँधै कछु तो नहिं हांसी ।
यह रीति सराग चरित्र विषैं, है सनातन वृन्द जिनिंद प्रकासी ॥२२॥

(८) गाथा–२५२ शुभोपयोगी श्रमणको किस समय प्रवृत्ति करना योग्य है और किस समय नहीं:—

मनहरण ।

कहूँ काहू मुनिको जो रोगसों विथित देखो,
तथा भूख प्यास करि देखो जो दुखित है ।
तथा काहू भाँतिकी परीषहके जोगसेती,
कायमें क़लेश काहू मुनिके कुचित है ॥

तहाँ तुम आपनी शकतिके प्रमान मुनि,
ताकी वैयावृत्ति आदि करो जो उचित है ।
जातैं वह साध निरुपाध होय वृन्दावन,
सहजसमाधमें अराधै जो [1]सुचित है ।। ३३ ।।

(९) गाथा–२५३ शुभोपयोगी श्रमण है वह लोगोंके साथ बातचीतकी प्रवृत्ति किस निमित्तसे करे यो योग्य है।

रोगी मुनि अथवा अचारज सुपूज गुरु,
तथा बाल वृद्ध मुनि ऐसे भेद वरनी ।
तिनकी सहाय सेवा आदि हेत मुनिनिको,
लौकिक जनहूसों सुसंभाषन करनी ।।
जामें तिन साधनके खेदको विछेद होय,
ऐसे शुभ भावनिसों वानीको उचरनी ।
सराग आनन्दमें अनिंद वृन्द विधि यह,
सुपरोपकारी बुधि भवोदधितरनी ।। ३४ ।।

(१०) गाथा–२५४ शुभका गौण–मुख्य विभाग ।

यह जो प्रशस्त रागरूप आचरन कहो,
वैयावृत्त आदि सो तो बड़ोई धरम है ।
मुनिमण्डलीमें यह गौनरूप राजै जातैं,
तहां रागभाव मंद रहत नरम है ।।
श्रावक पुनीतके बड़ोई धरमानुराग,
तातैं तहां उतकिष्ट मुख्यता परम है ।

1. चित्स्वरूप आत्मा ।

ताहीकरि परंपरा पावै सो परम सुख,
निहचै बखानी श्रुति यामें ना भरम है ॥ ३५ ॥

(११) गाथा–२५५ कारणकी विपरीतता–फलकी भी।

कवित्त।

यह प्रशस्त जो रागभाव सो, वस्तु विशेष जो पात्रविधान।
तिनको जोग पायकरि सोई, फल विपरीत फलत पहिचान ॥
ज्यों कृपि समै विविध धरनी तहँ, अविधि धरनिमहँ वीज वुवान।
सो विपरीत फलत फल निहचै, कारन सम कारज परमान ॥३६॥

(१२) गाथा–२५६ कारण और फलकी विपरीतता।

मनहरण।

छद्मस्थ बुद्धीने जो आपनी उकतिहीसों,
देव गुरु धर्मादि पदारथ थापै है।
व्रत नेम ध्यानाध्येन दानादि बखाने तहां,
तामें जो सुरत होय प्रीति करि व्यापै है ॥
तासों मोखपद तो सरवथा न पावै वै,
उपावै पुन्यरूप भाववीज यों अलापै है।
ताको फल भोगै देव मानुष शरीर धरि,
फेरि सो जगतहीमें तपै तीनों तापै है ॥ ३७ ॥

कवित्त (३१ मात्रा)।

वीतराग सरवज्ञदेवकरि, जो भाषित है वस्तुविधान।
देवधर्म गुरु ग्रंथ पदारथ, तिनमें जो प्रतीति रुचिवान ॥
सो शुभरागभाव वृन्दावन, निश्चयसों कीजो सरधान।
ताको फल साच्छात पुन्य है, परंपरा दे है शिवथान ॥३८॥

दोहा ।

तातैं गहि भवि वृन्द अब, अनेकान्तको सर्न ।
ताहीके अनुसार करि, शुभपयोग आचर्न ॥ ३९ ॥
ताको फल साच्छात लहि, पुन्यरूप सुखवृन्द ।
परम्परासों मोखपद, पैहै आनन्दकन्द ॥ ४० ॥

(१३) गाथा–२५७ मिथ्यादृष्टिको सर्वज्ञ कथित पदार्थोंमें कारणविपरीतता और फल विपरीतता ।

मनहरण ।

शुद्ध परमातम पदारथको जानै नाहिं,
ऐसे जे अज्ञानी जीव जगमें वखाने हैं ।
जाके उर विषय कषाय भूरि भरि रह्यौ,
ऐसे जगजंतको जे गुरुकरि माने हैं ॥
तिन्हैं भक्ति भावसेती सेवें अति प्रीति धारि,
आहारादि दान दे हरष हिय आने हैं ।
ताको फल भोगैं सो कुदेव कुमनुष होय,
रुलैं जग जालमें सो मूरख अयाने हैं ॥४१॥
आतमीक ज्ञान वीतराग भाव जाके नाहिं,
तथा याकी कथा हू न रुचै रंच भरी है ।
मिथ्यामत माते नित विषय कषाय राते,
ऐसेको जो गुरू मानि सेवै प्रीति धरी है ॥
आहारादि दान है प्रधान पद माने निज,
जाने मूढ़ सही मोहि यही निसतरी है ।

दोनों कर्म भार भरे कैसे भवसिंधु तरैं.
पाथरकी नाव कहूँ पानीमाहिं तरी है ॥४२॥

(१४) गाथा–२५८ कारणकी विपरीततासे सत्यार्थ फल सिद्ध नहीं होता।

इन्द्रिनिके भोगभाव विषय कहावैं और,
क्रोधादिक भाव ते कषायरूप वरनी।
इन्हैं सर्व सिद्धांतमें पाप ही मथन करी,
तथा इन्हैं धारै सोऊ पापी उर धरनी॥
ऐसे पाप भारकरि भरे जे पुरुष ते सु,
–भक्तनिको कसे निसतारैं निरवरनी।
आपु न तरैंगे औ न तारैंगे सु भक्तनिको,
दोनों पाप भार भरे भोगैं पाप करनी ॥४३॥

दोहा।

विषय कषायी जीवको, गुरुकरि सेयें मीत।
उत्तम फल उपजै नहीं, यह दिढ़ करु परतीत ॥४४॥

(१५) गाथा–२५९ यथार्थ फलका कारण ऐसा जो अविपरीत कारण।

मत्तगयन्द।

जो सब पाप क्रिया तजिकै, सब धर्मविषैं समता विसतारैं।
ज्ञान गुनादि सबै गुनको, जो अराधत साधत हैं श्रुतिद्वारैं॥
होंहिं सोई शिवमारगके, वर सेवनहार मुनीश उदारैं।
आपु तरैं भविको भव तारहिं, पावन पूज्य त्रिलोकमझारैं ॥४५॥

(१६) गाथा–२६० उसे ही विशेष समझाते हैं।

मनहरण ।

अशुभोपयोग जो विमोह रागदोष भाव,
तासतैं रहित होहि मुनी निरग्रंथ है ।
शुद्ध उपयोगकी दशामें केई रमैं केई,
शुभ उपयोगी मथैं विवहार मंथ है ॥
तेई भव्य जीवनिको तारैं हैं भवोदधितैं,
आपु शिवरूप पुन्यरूप पूज पंथ है ।
तिनहीकी भक्तितैं भविक शुभथान लहैं,
ऐसे चित चेत वृन्द भाषी जैनग्रंथ है ॥४६॥

(१७) गाथा–२६१ यथार्थ कारण-कार्यकी उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्य-विशेषतया करने योग्य है।

माधवी ।

तिहि कारनतैं गुन उत्तमभाजन, श्रीमुनिको जब आवत देखो ।
तब ही उठि वृन्द खड़े रहिकै, पद वंदि पदांबुजकी दिशि पेखो ॥
गुनवृद्ध विशेषनेकी इहि भांति, सदीव करो विनयादि विशेखो ।
उपदेश जिनेशको जान यही, विधिसों वरतो चहुसंघ सरेखो ॥४७॥

(१८) गाथा–२६२ श्रमणोंके योग्य प्रवृत्तिका निषेध नहीं है।

मनहरण ।

आवत विलोकि खड़े होय सनमुख जाय,
आदरसों आइये आइये ऐसे कहिक ।
अंगीकार करिकै सु सेवा कीजै वृन्दावन,
और अन्न पानादिसों पोखिये उमहिकै ॥

बहुरि गुननिकी प्रशंसा कीजे विनयसों,
हाथ जोरे रहिये प्रनाम कीजै ठहिकै ।
मुनिमहाराज वा गुनाधिक पुरुपनिसों,
याही भाँति कीजे श्रुतिसीखरीति गहिकै ॥ ४८ ॥

(१६) गाथा—२६३ श्रमणाभासोंके प्रति सर्व प्रवृत्तियोंका निषेध ही है ।

छप्पय ।

जे परमागम अर्थमाहिं, परवीन महामुनि ।
अरु संजम तप ज्ञान आदि, परिपूरित हैं पुनि ॥
तिनहिं आवतौ देखि, तबहि मुनिहूकहँ चहिये ।
खड़े होय सनमुख सुजाय, आदर निरबहिये ॥
सेवा विधि अरु परिनाम विधि, दोनों करिवो जोग है ।
है उत्तम मुनिमगरीति यह, जहँ सुभावसुखभोग है ॥४९॥

दोहा ।

दरवित जे मुनि भेष धरि, ते हैं श्रमनाभास ।
तिनकी विनयादिक क्रिया, जोग नहीं है भास ॥ ५० ॥

(२०) गाथा—२६४ श्रमणाभास ।

रूपक कवित्त ।

संजम तप सिद्धांत सूत्र, इनहू करि जो मुनि है संजुक्त ।
जो जिनकथित प्रधान आतमा, सुपरप्रकाशकतैं वर शुक्त ॥
तासु सहित जे सकल पदारथ, नहिं सरदहै जथा जिनउक्त ।
तब सो मुनि न होय यह जानो, है वह श्रमनाभास अजुक्त ॥५१॥

(२१) गाथा–२६५ सच्चे श्रमणोंके प्रति जो द्वेष रखे, आदर न रखे उनका नष्टत्त्व ।

मत्तगयन्द ।

श्री जिनशासनके अनुसार, प्रवर्ततु हैं जे महामुनिराई ।
जो तिनको लखि दोष धरैं, अनआदरतैं अपवाद कराई ॥
जे विनयादि क्रिया कही वृन्द, करै न तहां सो सुहर्ष बढ़ाई ।
सो मुनि चारितभ्रष्ट कहावत, यों भगवंत भनी सुनि भाई ॥५२॥

(२२) गाथा–२६६ स्वयं गुणोंमें हीन हैं फिर भी अधिक गुणी ऐसे श्रमणोंके पास विनयकी चाहना रखते हैं वह कैसा ?

द्रुमिला ।

अपने गुनतैं अधिके जे मुनी, गुन ज्ञान सु संजम आदि भरै ।
तिनसों अपनी विनयादि चहै, हम हू मुनि हैं इमि गर्व धरै ॥
तब सो गुनधारक होय तऊ, मुनि मारगतैं विपरीत चरै ।
वह मूढ़ अनन्त भवावलिमें, भटकै न कभी भवसिंधु तरै ॥५३॥

(२३) गाथा–२६७ यदि जो श्रमण, श्रमण्यसे अधिक तो है ही फिर भी अपनेसे हीनके प्रति विनय आदि बराबरी जैसा करे तो उसका विनाश ।

मत्तगयन्द ।

आपु विषैं मुनिके पदके गुन, हैं अधिके उतकिण्ट प्रमानै ।
सो गुनहीन मुनीननकी, जो करै विनयादि क्रिया मनमानै ॥
तो तिनके उरमाहिं मिथ्यात, –पयोग लसै लखि लेहु सयानै ।
है यह चारितभ्रष्ट मुनी, अनरीति चलै जतिरीति न जानै ॥५४॥

दोहा ।

विनय भगत तो उचित है, बड़े गुनिनिकी वृन्द ।
हीन गुनिनिको वंदतैं, चारित होत निकंद ॥ ५५ ॥

(२४) गाथा—२६८ असत्संगका निषेध ।

कवित्त—मात्रिक ।

जद्दिप जिनसिद्धांत सूत्रकरि, जानत है निहचै सब वस्त ।
अरु कषाय उपशमकरि जो मुनि, करत तपस्या अधिक प्रशस्त ॥
जो न तजै लौकिक जनसंगति, तो न होय वह मुनि परशस्त ।
संगरंगतैं भंग होय व्रत, यातैं तजिय कुसंगत रस्त ॥५६॥

दोहा ।

जैसे अगिनि मिलापतैं, शीतल जल ह्वै गर्म ।
तैसे पाय कुसंगको, होय मलिन शुभ कर्म ॥ ५७ ॥
तातैं तजो कुसंग मुनि, जो चाहो कुशलात ।
वसो सुसंगत सुमुनिके, जुतविवेक दिनरात ॥ ५८ ॥
कही कुसंगतकी कथा, बहुत भाँति श्रुतिमाहिं ।
विषम [१]गरल सम त्यागि तिहि, चलो सुसंगति छाहिं ॥ ५९ ॥

(२५) गाथा—२६९ लौकिकजनका लक्षण ।

द्रुमिला ।

निरग्रंथ महाव्रतधारक हो करि, जो इहि भाँति करै करनी ।
वरतै इस लौकिक रीतिविषैं, करै [२]वैदक [३]जोतिक [४]मंतरनी ॥
वह लौकिक नाम मुनी कहिये, परिभ्रष्ट दशा तिसकी वरनी ।
तपसंजमसंजुत होय तऊ, न तरै भवसागर दुस्तरनी ॥६०॥

---

१. विष । २. वैद्यक । ३. ज्योतिष । ४. मंत्रविद्या ।

दोहा ।

लौकिक जनमन मोदके, जेते विविध विधान ।
तिनमें वरतै ग्यानजुत, सो लौकिक मुनि जान ॥ ६१ ॥
ताकी संगतिको तजहिं, उत्तम मुनि परवीन ।
जातैं संगति दोषतैं, सज्जन होय मलीन ॥ ६२ ॥

(२६) गाथा–२७० सत्संग (विधेय है) जो करने योग्य है ।

छप्पय ।

तिस कारन मुनिको कुसंग, तजिकैं यह चहियत ।
निज गुनके समतूल होहि, कै अधिक सु महियत? ॥
तिन मुनिकी सतसंगमाहिं, तुम बसौ निरंतर ।
जो सब दुखतैं मुक्ति दशा, चाहो अभिअंतर ॥
समगुन मुनिकी सतसंगतैं, होय सुगुनरच्छा परम ।
गुनवृद्ध मुनिनिकी संगतैं, बढ़ै सुगुन आतमधरम ॥ ६३ ॥

दोहा ।

जलमें शीतल गुन निरखि, ताकी रच्छाहेत ।
शीत भौनके कौनमें, राखहिं सुबुध सचेत ॥ ६४ ॥
यह समान गुनकी सुखद, संगति भाषी मीत ।
अब भाषों गुन अधिकके, सतसंगतिकी रीत ॥ ६५ ॥
जैसे बरफ कपूर पुनि, शीत आदि संजोग ।
होत नीर गुन शीत अति, यह गुन अधिक नियोग ॥ ६६ ॥

काव्य (मात्रा २४)

तातैं जे मुनि महामोख, –सुखके अभिलाखी ।
तिनको यह उपदेश, सुखद है श्रुतिकी साखी ॥

तजि कुसंग सरवथा, सुपथमें चलो वुधातम ।
वसो सदा सतसंगमाहिं, साधो शुद्धातम ॥ ६७ ॥

मनहरण ।

प्रथम दशामें शुभ उपयोगसेती,
उतपन्न जो प्रवृत्ति वृन्द ताको अंगीकार है ।
पीछेसों सु संजमकी उतकिष्टताई करि.
परम दशाको अवधारो बुद्धिधार है ॥
पाछें सर्व वस्तुकी प्रकाशिनी केवलज्ञाना,
—नन्दमई शास्वती अवस्था जो अपार है ।
ताको सरवथा पाय अपने अतिन्द्री सुख,
तामें लीन होहु यह पूरो अधिकार है । ६८ ।

माधवी ।

तिस कारनतैं समुझाय कहों, मुनि वृन्दनिको सतसंगति कीजे ।
अपने गुनके जे समान तथा, परधान मुनीनिकी संग गहीजे ॥
जदि चाहत हौ सब दुःखनिको खय, तो यह सीख सु सीस धरीजे ।
नित वास करो सतसंगतिमाहिं, कुसंगतिको सु जलंजलि दीजे ॥६९॥

दोहा ।

ज्यों जुग मुकता सम मिलत, कीमत होत महान ।
त्यों सम सतसंगत मिलत, बढ़त सुगुन अमलान ।७० ॥
ज्यों पारस संजोगतैं, लोह कनक है जाय ।
[१]गरल [२]अमेय सम गुनधरत, उत्तम संगति पाय ।७१ ॥

---

१. विष । २. अमृत ।

जैसे लोहा काठ संग, पहुँचै सागर पार ।
तैसे अधिक गुनीनि संग. गुन लहि तजहि विकार ॥ ७२ ॥
ज्यों मलयागिरिके विषैं, बावन चंदन जान ।
परसि [१]पौन तसु और तरु, चन्दन होंहिं महान ॥ ७३ ॥
त्यों सतसंगति जोगतैं, मिटै सकल अपराध ।
सुगुन पाय शिवमग चलै, पावै पद निरुपाध ॥ ७४ ॥
देख कुसंगति पायके, होंहिं सुजन सविकार ।
अगिनि-जोग जिमि जल गरम, चंदन होत अँगार ॥ ७५ ॥
[२]छीर जगत जन पोषिकै, करत [३]बीजदुति गात ।
सोई अहिमुख परत ही, हालाहल ह्वै जात ॥ ७६ ॥
तातैं वहुत कहौं कहा, जे ज्ञाता परवीन ।
ते थोरेहीमें लखहिं, संग रंगकी बीन ॥ ७७ ॥
दुर्जनको उपदेश यह, निष्फल ऐसें जात ।
पाथर परको मारिबो, चोखो तीर नसात ॥ ७८ ॥
तातैं निजहित हेतको, गहन करहिं बुधिधार ।
हंस पान [४]पयको करत, जिमि तजि वारिविकार ॥ ७९ ॥
यों मत चितमें जानियौ, मुनिकहँ यह उपदेश ।
श्रावकको तो नहिं कह्यो, मूल ग्रंथमें लेश ॥ ८० ॥
मुनिके मिष सबको कह्यो, न्याय रीति निरबाह ।
जिहि मगमें नृप पग धरै, प्रजा चलै तिहि राह ॥ ८१ ॥
ऐसो जानि हिये सदा, जिन आगम अनुकूल ।
करो आचरन हे भविक, करम जलैं ज्यों तूल ॥ ८२ ॥

---

१. पवन-हवा । २. दूध । ३ बिजली जैसी कांति । ४. दूध ।

परम पुन्यके उदयतैं, मिल्यौ सुघाट सुजोग ।
अब न चूक भवि वृन्द यह, नदी नाव संजोग ॥ ८३ ॥
सकल ग्रंथको मंथके, पंथ कह्यो यह सार ।
कुन्दकुन्द गुरुदेव सो, मोहि करो भव पार । ८४ ॥
जयवंतो वरतौ सदा, श्रीसरवज्ञ उदार ।
जिन भाष्यौ यह मुकतिमग, श्रीमत प्रवचनसार ॥ ८५ ॥
यह मुनि शुभ आचारको, पूर्ण भयो अधिकार ।
सो जयवंतो होहु जग, रविशशिकी उनिहार ॥ ८६ ॥
मंगलकारी जगत गुरु, शुद्ध सिद्ध अरहंत ।
सो याही मगतैं किये, सकल करमको अंत ॥ ८७ ॥
तातैं परम पुनीत यह, जिनशासन सुखकंद ।
वृन्दावन सेवत सदा, दायक सहजानन्द ॥ ८८ ॥

अथ पञ्चरत्नतत्त्वस्वरूपो लिख्यते ।

मंगलाचरण—दोहा ।

पंच परमपद वंदिकै, पंचरतनको रूप ।
गाथा अरथ विलोकिकै, लिखों सुखद रसकूप ॥ ८९ ॥
मानो इस सिद्धांतकै, एई पांचों रत्न ।
मुकुटसरूप विराजहीं, उर धरिये जुत जत्न ॥ ९० ॥
अनेकांत भगवंतमत, ताको जुत संक्षेप ।
दरसावत है रतन यह, नय प्रमान निक्षेप ॥ ९१ ॥

और यही संसार थिति, मोक्षस्थिति विरतंत ।
प्रगट करत हैं तासुतैं, होहु सदा जयवंत ॥ ९२ ॥
पंचरतनको नाम अब, सुनो भविक अभिराम ।
उर सरधा दिढ़ धारिकै, वेगि लहो शिवधाम ॥ ९३ ॥

छप्पय ।

प्रथम तत्त्व संसार, मोक्ष दूजो पुनि जानो ।
मोक्षतत्त्वसाधक तथैव, साधन उर आनो ॥
सर्वमनोरथ सुखद, —थान शिष्यनिको वरनी ।
शास्त्रश्रवणको लाभ, तुरित भवसागर तरनी ॥
यह पंचरतन इस ग्रंथमें, सकल ग्रंथ मथिके धरे ।
वृन्दावन जो सरधा करै, सो भाव तरि शिवतिय वरे ॥ ९४ ॥

(१) गाथा—२७१ संसारतत्त्व ।

छप्पय ।

जो मुनिमुद्रा धारि, अर्थ अजथारथ पकरी ।
जथा गोह गहि भूमि, तथा हारिलने लकरी ॥
जो हम निश्चय किया, सोइ है तत्त्व जथारथ ।
इमि हठसों एकांत, गहै वर्जित परमारथ ॥
सो भमै अगामीकालमें, पंचपरावर्त्तन करत ।
दुखफल अनंत भोगत सदा, कबहुं न भवसागर तरत ॥ ९५ ॥

दोहा ।

मिथ्याबुद्धि विकारतैं, जे जन अज्ञ अतीव ।
अजथारथ ही तत्त्व गहि, हटजुत रहत सदीव ॥ ९६ ॥

जद्दिप मुनिमुद्रा धरैं, तद्दिप मुनि नहिं सोय ।
सोई संसृत तत्त्व है, इहाँ न संशय कोय ॥ ९७ ॥
ताको फल परिपूर्ण दुख, पंच परावतरूप ।
भमै अनन्ते काल जग, यों भाषी जिनभूप ॥ ९८ ॥
और कोइ संसार नहिं, संसृत मिथ्याभाव ।
जिन जीवनिके होय सो, संसृतत्त्व कहाव ॥ ९९ ॥

(२) गाथा–२७२ मोक्षतत्त्व ।

अनंग शेखर–दण्डक ।

मिथ्या अचार टारिके जथार्थ तत्त्व धारिके,
　　विवेक दीप वारिके स्वरूप जो निहारई ।
प्रशांत भाव पायके विशुद्धता बढ़ाय पुन्न,
　　–बंध निर्जरायके अबंध रीति धारई ।
न सो भमै भवावली तरै सोई उतावली,
　　सोई मुनीशको पदस्थ पूर्णता सुसारई ।
यही सु मोखतत्त्व है त्रिलोकमें महत्त्व है,
　　सोई दयानिधान भव्य वृन्दको उधारई ॥१००॥

दोहा ।

जो परदरवनि त्यागिकै, है स्वरूपमें लीन ।
सोई जीवनमुक्त है, मोक्षतत्त्व परवीन ॥१०१॥

(३) गाथा–२७३ उनका साधनतत्त्व ।

मनहरण ।

सम्यक प्रकार जो पदारथको जानतु है,
　　आपा पर भेद भिन्न अनेकान्त करिकै ।

इन्द्रिनिके विषमैं न पागै औ परिग्रह,—
पिशाच दोनों भाँति तिन्हें त्यागै धीर धरिकै ॥
सहज स्वरूपमें ही लीन सुखसैन मानो,
करम कपाटको उघारै जोर भरिकै ।
ताहीको जिनिंद मुक्त साधक बखानतु हैं,
सोई शुद्ध साध ताहि वंदों भर्म हरिकै ॥१०२॥

दोहा ।

ऐसे सुपरविवेकजुत, लसैं शुद्ध जे साध ।
मोखतत्त्वसाधक सोई. वर्जित सकल उपाध ॥१०३॥

(४) गाथा—२७४ उन शुद्धोपयोगीको सर्व मनोरथके स्थानके रूपमें अभिनन्दन (प्रशंसा) ।

मनहरण ।

शुद्ध वीतरागता सुभावमें जु लीन शिव,
—साधक श्रमन सोई मुनिपदधारी है ।
ताही सु विशुद्ध उपयोगीके दरश ज्ञान,
भापी है जथारथपनेसों विसतारी है ॥
फेर ताही शुद्ध मोखमारगी मुनीशहीके,
निराबाध मोखकी अवस्था अविकारी है ।
सोई सिद्धदशामें विराजै ज्ञानानन्दकन्द,
निरद्वन्द वृन्द ताहि बंदना हमारी है ॥१०४॥

दोहा ।

मोक्षतत्त्वसाधन यही, शुद्धुपयोगी साध ।
सकलमनोरथसिद्धिप्रद, शुद्ध सिद्ध निरबाध ॥१०५॥

(५) गाथा–२७५ अब आचार्य देव शिष्यजनोको शास्त्र-
फलके साथ जोड़ते हुये शास्त्र पूर्ण करते हैं।

छप्पय।

जो यह शासन भलीभाँति, जानै भवि प्रानी।
श्रावक मुनि आचार, जासुमधि सुगुरु बखानी॥
सो थोरे ही कालमाहिं, शुद्धातम पावै।
द्वादशांगको सारभूत, जो तत्त्व कहावै॥
मुनि कुन्दकुन्द जयवंत जिन, यह परमागम प्रगट किय।
वृन्दावनको भव उदधितैं, दै अवलम्ब उधार लिय॥१०६॥

द्वादशांगश्रुतिसिंधु, मथन करि रतन निकासा।
सुपरभेदविज्ञान, शुद्ध चारित्र प्रकासा॥
सो इस प्रवचनसारमाहिं, गुरु वरनन कीना।
अध्यातमको मूल, लखहिं अनुभवी प्रवीना॥
मुनि कुन्दकुन्द कृत मूल जु सु, अमृतचन्द टीका करी।
तसु हेमराजने वचनिका, रची अध्यातमरसभरी॥१०७॥

मनहरण।

दोइ सौ पछत्तर पराकृतकी गाथामाहिं,
कुन्दकुन्द स्वामी रची प्रवचनसार।
अध्यातमवानी स्यादवादकी निशानी जातैं,
सुपरप्रकाशबोध होत निरधार है॥
निकट–सुभव्यहीके भावभौनमाहिं याकी,
दीपशिखा जगै भगै मोह अंधकार है।
मुख्य फल मोख औ अमुख्य शक्रचक्रिपद,
वृन्दावन होत अनुक्रम भव पार है॥१०८॥

अथ कवि व्यवस्था लिख्यते ।

छप्पय ।

अगरवाल कुल गोल, गोत वृन्दावन धरमी ।
धरमचन्द जसु पिता, शितावो माता परमी ॥
तिन निजमतिमित बाल, ख्याल सम छन्द बनाये ।
काशी नगर मंझार, सुपर हित हेत सुभाये ॥
प्रिय उदयराज उपगारतैं, अब रचना पूरन भई ।
हीनाधिक सोधि सुधारियो, जे सज्जन समरसमई ॥१०९॥

मनहरण ।

बाराणसी आरा ताके वीच बसै बारा,
सुरसरिके किनारा तहां जनम हमारा है ।
ठारै अड़ताल माघ सेत चौदै सोम पुष्य,
कन्या लग्न भानुअंश सत्ताइस धारा है ॥
साठेमाहिं काशी आये तहां सतसंग पाये,
जैनधर्ममर्म लहि भर्म भाव हारा है ।
सैली सुखदाई भाई काशीनाथ आदि जहाँ,
अध्यातमवानीकी अखण्ड बहै धारा है ॥११०॥

छप्पय ।

प्रथमहिं आढ़तराम, दया मोपै चित लाये ।
सेठी श्री सुखलालजीयसों, आनि मिलाये ॥
तिनपै श्री जिनधर्ममर्म, हमने पहिचाने ।
पीछे वकसूलाल मिले, मोहि मित्र सयाने ॥

अवलोके नाटकत्रयी पुनि, औरहु ग्रंथ अनेक जव ।
तव कविताईपर रुचि वढ़ी, रचो छन्द भवि वृन्द अव ॥१११॥

सम्वत विक्रमभूप, ठारसौ त्रेशठमाहीं ।
यह सव वानक वन्यौ, मिली सतसंगतिछाहीं ॥
तव श्री प्रवचनसार, ग्रन्थको छन्द वनावों ।
यही आश उर रही, जासुतैं निजनिधि पावों ॥
तव छन्द रची पूरन करी, चित न रुचि तव पुनि रची ।
सोऊ न रुची तव अव रची, अनेकांत रससों मची ॥११२॥

अथ ग्रन्थपरिसमाप्तिमङ्गल

दोहा ।

[१]वन्दों श्रीसरवज्ञ जो, निरावरन निरदोप ।
विघ्नहरन मंगलकरन, मनवांछित सुख पोप ॥११३॥
पंचपरमगुरुको नमो, उर धरि परम सनेह ।
भवदधितैं भवि वृन्दको, पार उतारत तेह ॥११४॥
जिनवानी जिनधर्मको, वंदों वारंवार ।
जिस प्रसादतैं पाइये, ज्ञानानन्द अपार ॥११५॥
सज्जनसों कर जोरके, करों वीनती मीत ।
भूल चूक सव सोधिकैं, शुद्ध कीजियौ रीत ॥११६॥
यामें हीनाधिक निरखि, मूलग्रन्थको देखि ।
शुद्ध कीजियो सुजनजन, वालवुद्धि मम पेखि ॥११७॥

---

१. यह दोहा छन्दशतकमें भी है ।

यह मुनि शुभचारित्रको, पूर्ण भयो अधिकार ।
सो जयवंत रहो सदा, शशि सूरज उनिहार ॥११८॥

अथ कविवंशावली लिख्यते ।

काव्य—२४ मात्रा ।

मार्गशीर्ष गत दोय, और पंद्रह अनुमानो ।
नारायन विच चन्द्र, जानि औ सतरह जानो ॥
इसी बीच **हरिवंश**, लाल बाबा गृह जाये ।
नाम **सहारूपाह**, साहजूके कहलाये ॥११९॥

बाबा **हीरानन्द**साह, **सुन्दर** सुत तिनके ।
पंच पुत्र धनधर्म, —वान गुनजुत थे इनके ॥
प्रथमे **राजाराम**, बबा फिर **अभैराज** सुनु ।
उदयराज उत्तम सुभाव, आनन्दमूर्ति गुनु ॥१२०॥

भोजराज औ **जोगराज** पुनि, कहे जानिये ।
इन पितु लग **काशी**, निवास अस सुखद मानिये ॥
अब बाबा **खुशहाल**, —चन्द्र सुतका सुनु बरनन ।
सीताराम सु ज्ञानवान, बंदों तिन चरनन ॥१२१॥

ददा हमारे **लालजीय**, कुल औगुन खण्डित ।
तिन सुत मो पितु **धर्मचन्द**, सब शुभजसमंडित ॥
तिनको दास कहाय, नाम मो **वृन्दावन** है ।
एक भ्रात औ दोय, पुत्र मोकों यह जन है ॥१२२॥

महावीर है भ्रात नाम, सो छोटा जानो ।
ज्येष्ठ पुत्रको नाम, अजित इमि करि परमानो ॥
मगसिर सित तिथि तेरस, काशीमें तब जानो ।
विक्रमाब्द गत सतरहसै, नव विदित सु मानो ॥१२३॥
[1]मो लघु सुत है शिखरचन्द, सुन्दर सुत ज्येष्ठको ।
इमि परिपाटी जानिये, कह्यो नाम लघु श्रेष्ठको ॥

पद्धरी ।

संवत चौरानूमें सु आय । आरेतैं परमेष्ठीसहाय ॥
अध्यातमरंग पगे प्रवीन । कवितामें मन निशिद्यौस लीन ॥१२४॥
सज्जनता गुनगरुवे गम्भीर । कुल अग्रवाल सु विशाल धीर ॥
ते मम उपगारी प्रथम पर्म । साँचे सरधानी विगत भर्म ॥१२५॥
भैरवप्रसाद कुल अग्रवाल । जैनी जाती बुधि है विशाल ॥
सोऊ मोपै उपकार कीन । लखि भूल चूक सो शोध दीन ॥१२६॥

छप्पय ।

सीताराम पुनीत तात, जसु मात हुलासो ।
ज्ञात लमेचू जैनधर्म, कुल विदित प्रकासो ॥
तसु कुलकमलदिनिन्द, भ्रात मम उदयराज वर ।
अध्यातमरस छके, भक्त जिनवरके दिढ़तर ॥
ते उपगारी हमको मिले, जब रचनामें भावसों ।
तब पूरन भयो गिरंथ यह, वृन्दावनके चावसों ॥१२७॥

---

१. इन दो तुकामें दो २ मात्रायें अधिक हैं । और यह छन्द दोनों प्रतियोंमें आया है ।

दोहा ।

चार अधिक उनईससौ, संवत विक्रम भूप ।
जेठ महीनेमें कियो, पुनि आरंभ अनूप ॥१२८॥

पांच अधिक उनईससौ, धवल तीज वैशाख ।
यह रचना पूरन भई, पूजी मन अभिलाख ॥१२९॥

इति श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत परमागम श्रीप्रवचनसारजी मूल गाथा ताकी संस्कृतटीका श्री अमृतचन्द्राचार्यने करी ताकी देशभाषा पांडे हेमराजजीने रची है, ताहीके अनुसारसों वृन्दावन अग्रवाल गोइलगोतीने भाषा छन्द रची तहां यह मुनिशुभ-चारित्राधिकार समाप्तं ।

सर्वगाथा २७५ दोयसौ पचहत्तर भाषाके छन्द सर्व १०९४ एक हजार चौरानवे भये सो जयवंत होहु । श्रीरस्तु मंगलमस्तु—सं. १९०५ सर्व भाषाके छन्द ११६२ अंकेय ग्यारहसै बासठ भये—.

(इह मूल ग्रन्थकर्त्ताके हाथकी प्रथम प्रति लिखी है सो सदा जयवंत प्रवर्तो)

—: शुद्धि पत्र :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	३	कृ ाल	कृपाल
२०	५	(१४)	(१२)
२१	१८	पंडित	मंडित
२४	३	पू व	पूर्व
२६	११	भग	भंग
,,	१४	ऊपज	ऊपजैं
३१	५	गई	गाई
३६	१५	जसे	जैसे
४०	१६	देख	देखै
५२	अंतिम	अत ग	अंतरंग
६६	१४	दृष्टि....	दृष्टि अहै
६७	३	प्रभा	जैसे तेज प्रभा
७६	७	(७५)	(१५)
९६	१५	जसे	जैसे
९८	२२	तात	तातैं
१०१	२०	तसो	तैसो
१०४	२०	पज	पर्ज
,,	अंतिम	पजद्वार	पर्जद्वार
,,	२२	दरवल्हाही	दरव ल्हाही
१०६	२०	वन	वनै
११२	१७	तात	तातै
,,	२०	अवको	अव को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२०	अंतिम	भद	भेद
१२५	९	होत	हेत
१३३	२	दाँपै	ढाँपै
१३५	१३	निश्चै	निश्चैं
१४६	६	करन	कारन
१५१	१९	वंधे	बँधे
१५८	१८	वघ	वंधै
१६१	२२	कर	करै
१७५	२०	कारि	करि
१८३	२	घर	घट
"	२१	तसो	तैसो
"	"	जसौं	जैसो
१९१	१९	—	विलच्छ है
१९५	१८	वाना	वाना
"	१९	पम	पर्म
२१५	८	अरंम	अरंभ
२२४	१५	वै	पं